आज की
प्रतिनिधि कहानियां

संकलनकर्ता तथा भूमिका लेखक

किरणचन्द्र शर्मा, एम०ए०, (संस्कृत व हिन्दी), बी०ए० (ऑनर्स),

अध्यक्ष–संस्कृत हिन्दी विभाग, अहीर डिग्री कॉलेज, रेवाड़ी,

रिसर्च-स्कालर, पूर्वी पञ्जाब विश्वविद्यालय ।

प्रकाशक

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

फ़व्वारा—दिल्ली

प्रकाशक
गौरीशंकर शर्मा, मैनेजर,
एस० चन्द एण्ड कम्पनी,
फ़व्वारा—दिल्ली ।

प्रथम बार : १९४६
द्वितीय बार : १९४९
तृतीय बार : १९५०

मूल्य
तीन रुपये
३)

मुद्रक
ईश्वर चन्द, बी० ए०,
स्वतन्त्र भारत प्रेस,
४२३, कूचा बुलाकी बेगम
एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली

उसने कहा था

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

(सन् १८८३–१९११)

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं,तब अमृतसर में, उनकी बिरादरी वाले-तंग, चक्करदार गलियों में, हरएक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर उनका समुद्र उमड़ा कर 'बचो खालसाजी', 'हटो भाईजी' 'ठहरना माई' 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा' कहते हुए सफ़ेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों गन्ने, खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चिनौती देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए; हट जा, करमा वालिए; हट जा, पुत्तां प्यारिए; बच जा, लम्मी-वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों-वाली है, पुत्रों को प्यारी है लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहां है?'

'मगरे में,—और तेरे?'

'माझे में;—यहां कहां रहती है?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के यहां आया हूँ, उनका घर गुरुबाज़ार में है।'

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्कराकर पूछा '—तेरी कुड़माई हो गई?' इस पर लड़की कुछ आंखें चढ़ाकर 'धत्' कह कर दौड़ गई और लड़का मुंह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्ज़ी वाले के यहां या दूधवाले के यहां अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हंसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—'हाँ हो गई।'

'कब?'

'कल,—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उंड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुंचा।

२

'राम-राम यह भी कोई लड़ाई है ! दिन-रात खंदकों में बैठे-बैठे हड्डियां अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धंसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दिखता नहीं—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ-सौ गज़ धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहां दिन में पचास ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में बिता ही दिए। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी मेम के बाग में, मखमल की-सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं दाम नहीं लेती, कहती है तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झंपी, बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मार कर न लौटूं तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े-संगीन देखते ही मुंह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं! यों अन्धेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं, तो सीधे बर्लिन पहुंच जाते, क्यों ?' सूबेदार हज़ारासिंह ने मुस्कराकर कहा—'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा ?'

'सूबेदारजी, सच है'--लहनासिंह बोला—'पर करें क्या ? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धंस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चंबे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।' 'उदमी उठ, सिगड़ी में कोयले डाल। वज़ीरा तुम चार जने बाल्टियां लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगा।

वज़ीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गंदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूज़ों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।'

'हां, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा ज़मीन यहां मांग लूंगा और फलों के बूटे लगाऊँगा!'

'लाड़ी होरां को भी यहां बुला लोगे? या वही दूध पिलाने वाली फिरंगी मेम—'

'चुपकर। वहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं?'

'अच्छा अब बोधासिंह कैसा है?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊं। रात-भर तुम अपने दोनों कंबल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते

हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न मांदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है, और 'निमोनिया' से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूंगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आंगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वज़ीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—'क्या मरने मराने की बात लगाई है?'

इतने में एक कोने से पंजाबी गीत की आवाज़ सुनाई दी। सारी खंदक गीत से गूंज उठी और सिपाही फिर ताज़े हो गये; मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

३

दो पहर रात हो गई है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कंबल बिछाकर और लहनासिंह के दो कंबल और एक ब्रानकोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आंख खाई के मुख पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

'क्यों बोधासिंह, भाई क्या है?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुंह से लगाकर पूछा-'कहो कैसे हो?'

पानी पीकर बोधा बोला—'कंपनी छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दांत बज रहे हैं।

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।'

'और तुम?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है। पसीना आरहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता, चार दिन से तुम मेरे लिए—'

'हां, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला

करें ।' यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा ।

'सच कहते हो !'

'और नहीं झूठ ?' यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने ज़बरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और ज़ीन का कुरता पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ । मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी ।

आधा घण्टा बीता । इतने में खाई के मुंह से आवाज़ आई—'सूबेदार हज़ारासिंह ।'

'कौन ?' लपटन साहब ? हुकुम हुजूर !' कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ ।

'देखो, इसी दम धावा करना होगा । मील-भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है । उसमें पचास से ज्यादा जर्मन नहीं हैं । इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है । तीन-चार घुमाव हैं । जहां मोड़ है, वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ । तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो । खँदक छीनकर वहीं जब तक दूसरा हुक्म न मिले डटे रहो । हम यहां रहेगा ।'

'जो हुक्म ।'

चुपचाप सब तैयार हो गये । बोधा भी कंबल उतारकर चलने लगा । तब लहनासिंह ने उसे रोका । लहनासिंह आगे हुआ, तो बोधा के बाप सूबेदार ने उंगली से बोधा की ओर इशारा किया । लहनासिंह समझकर चुप हो गया । पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई । कोई रहना न चाहता था । समझा बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया । लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे । दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—'लो, तुम भी पियो ।'

आंख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया । मुंह का भाव छिपाकर बोला--'लाओ साहब ।' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा, बाल देखे, तब उसका माथा ठनका ।

लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहां उड़ गये और उनकी जगह कैदियों के-से कटे हुए बाल कहां से आ गये ?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है ? लहनासिंह ने जांचना चाहा। लपटन साहब पांच वर्ष से उनकी रेजिमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायेंगे ?'

'लड़ाई ख़त्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं ?'

'नहीं साहब,शिकार के वे मज़े यहां कहां ? याद है,पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के ज़िले में शिकार करने गए थे--'हां, हां'--वहीं जब आप खोते[1] पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? 'बेशक, पाजी कहीं का'—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मज़ा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट के मेस में लगायेंगे। 'हो' पर हमने वह विलायत भेज दिया, ऐसे बड़े-बड़े सींग। दो-दो फुट के तो होंगे ?'

'हां' लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे, तुमने सिगरेट नहीं पिया ?'

'पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ' कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिये।

अन्धेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

'कौन ? वज़ीरासिंह ?'

'हां, क्यों लहना ? क्या क़यामत आ गई ? ज़रा तो आंख लगने दी होती ?'

'होश में आओ। क़यामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।'

---

१. गधे।

'क्या ?'

'लपटन साहब या तो मारे गये हैं या कैद हो गए हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुंह नहीं देखा मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा[1] साफ़ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है ?'

'तो अब ?'

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरां कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहां खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खंदक की बात झूठ है चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

'ऐसी तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहां सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।'

'पर यहां तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं, दस लाख । एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को तीन जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बांध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने.........

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब

---

१. सुसरा (गाली)

के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आंख ! मीन गोट्ट'[१] कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीन गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास हटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हंसकर बोला—क्यों लपटन साहब ! मिजाज कैसा है ! आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंचके सींग होते है यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं, पर यह तो कहो, ऐसा साफ उर्दू कहां से सीख आये ? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पांच लफ़्ज भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानो जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—चालाक तो बड़े हो, पर माझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिये चार आंखें चाहियें। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गांव में आया था। औरतों को बच्चे होने को ताबीज बांटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा[२] बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनीवाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ़ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गौ हत्या बंद कर देंगे। मन्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो, सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्ला जी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गांव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गांव में अब पैर रखा तो……

---

१. हाय ! मेरे राम ! (जर्मन) २. खटिया

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जांघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फ़ायरों ने साहब की कपाल क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़े आये।

बोधा चिल्लाया—'क्या है ?'

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफ़ा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियां कसकर बांधीं। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिखों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। पर यहां थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था, वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे···

अचानक आवाज आई 'वाह गुरुजी की फ़तह। वाह गुरुजी का ख़ालसा!' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फ़ायर जर्मनी की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया। एक किलकारी और—'अकाली सिखों की फौज आई! वाह गुरूजी दी फतह! वाह गुरूजी दा खालसा! ! सत श्री अकाल पुरुष!!!' और लड़ाई ख़तम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी को साफा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा, चाँद जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन-भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागज़ात पाकर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहां से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियां चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं। फील्ड अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते-होते वहां पहुँच जायंगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रखी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही; पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सवेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—'तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनी जी की सौगन्ध है, जो इस गाड़ी में न चले जाओ।'

'और तुम ?'

'मेरे लिये वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियां आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वज़ीरासिंह मेरे पास ही है।'

'अच्छा पर—'

'बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था, वह मैंने कर दिया।'

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—'तैने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?'

'अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना।'

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया—'वज़ीरा पानी पिला दे और मेरा कमरवन्द खोल दे। तर हो रहा है।'

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्मभर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं, समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

❀ ❀ ❀

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहां आया हुआ है। दहीवाले के यहां, सब्ज़ीवाले के यहां, हर कहीं उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—'हां, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलों वाला सालू?' सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

'वज़ीरासिंह, पानी पिला दे।'

❀ ❀ ❀

पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर ज़मीन के मुकद्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहां रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हज़ारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार

का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहां पहुंचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार 'वेढे'[1] में से निकलकर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं? जा मिल आ। लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाज़े पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं।'

तेरी कुड़माई हो गई?—धत्—कल हो गई देखते नहीं रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट से मूर्च्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

वज़ीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था।'

स्वप्न चल रहा है सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमक-हलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों[2] की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी—'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टांगेवाले का घोड़ा दही-वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठाकर दुकान के तख़्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आंचल पसारती हूँ।'

---

१. जनाने। २. स्त्रियों।

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी[1] में चली गई। लहना भी आंसू पोंछता हुआ बाहर आया।

'वज़ीरासिंह पानी पिला–' उसने कहा था।'

लहना का सिर अपनी गोद में रखे वज़ीरासिंह बैठा है। जब मांगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—'कौन ? कीरतसिंह ?'

वज़ीरा ने कुछ समझ कर कहा—'हां।'

'भइया, मुझे और ऊंचा कर ले। अपने पट्ट[2] पर मेरा सिर रख ले। अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अबके हाड़[3] में यह आम खूब फलेगा। चाचा भतीजे दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।'

वज़ीरासिंह के आंसू टप-टप टपक रहे थे।

❀ ❀ ❀

कुछ दिन पीछे लोगों ने अख़बारों में पढ़ा—फ्रांस और बेलजियम-६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

---

१. अन्दर का घर। २.जांघ। ३.आषाढ

सोहाग का शव
प्रेमचन्द

मध्य-प्रदेश के एक पहाड़ी गांव में एक छोटे-से घर की छत पर एक युवक मानों संध्या की निस्तब्धता में लीन हुआ-सा बैठा था। सामने चन्द्रमा के मलिन प्रकाश में आर्द्र पर्वतमालाएं अनन्त के स्वप्न की भांति गम्भीर, रहस्यमयी, संगीतमय, मनोहर मालूम होती थीं। उन पहाड़ियों के नीचे जल-धारा की एक रौप्य रेखा ऐसी मालूम होती थी मानों उन पर्वतों का समस्त संगीत, समस्त गांभीर्य, सम्पूर्ण रहस्य इसी उज्ज्वल प्रवाह में लीन हो गया हो। युवक की वेश-भूषा से प्रकट होता था कि उसकी दशा बहुत संपन्न नहीं है। हां, उसके मुख से तेज और मनस्विता झलक रही थी। उसकी आंखों पर ऐनक न थी, न मूछें मुड़ी हुई थीं, न बाल सँवारे हुए थे, कलाई पर घड़ी न थी, यहां तक कि कोट की जेब में फाउंटेनपेन भी न था। या तो वह सिद्धांतों का प्रेमी था, या आडम्बरों का शत्रु।

युवक विचारों में मौन उसी पर्वतमाला की ओर देख रहा था कि सहसा बादल की गरज से भी भयंकर ध्वनि सुनाई पड़ी। नदी का मधुर गान उस भीषण नाद में डूब गया। ऐसा मालूम हुआ मानों उस भयंकर नाद ने पर्वतों को भी हिला दिया है, मानों पर्वतों में कोई संग्राम छिड़ गया है। यह रेलगाड़ी थी जो नदी पर बने हुए पुल से चली आ रही थी।

एक युवती कमरे से निकलकर छत पर आई और बोली—'आज अभी से गाड़ी आ गई! इसे भी आज ही बैर निभाना था।'

युवक ने युवती का हाथ पकड़कर कहा—'प्रिये, मेरा जी चाहता है कहीं न जाऊँ। मैंने निश्चय कर लिया। मैंने तुम्हारी ख़ातिर हामी भर ली थी, पर अब जाने की इच्छा नहीं होती। तीन साल कैसे कटेंगे?

युवती ने कातर स्वर में कहा—'तीन साल के वियोग के बाद फिर तो जीवन-पर्यंत कोई बाधा न खड़ी होगी। एक बार जो निश्चय कर लिया है उसे पूरा ही कर डालो। अनंत सुख की आशा में मैं सारे कष्ट झेल लूंगी।'

यह कहते हुए युवती जलपान लाने के बहाने से फिर भीतर चली गई। आंसुओं का आवेश उसके काबू के बाहर हो गया। इन दोनों प्राणियों के वैवाहिक जीवन की यह पहली ही वर्षगांठ थी। युवक बंबई-विश्वविद्यालय से एम०ए० की उपाधि लेकर नागपुर के एक कालेज में अध्यापक था। नवीन युग की नई-नई वैवाहिक और सामाजिक क्रांतियों ने उसे लेशमात्र भी विचलित न किया था। पुरानी प्रथाओं से ऐसी प्रगाढ़ ममता कदाचित् वृद्धजनों को भी कम होगी। प्रोफेसर हो जाने के बाद उसके माता-पिता ने इस बालिका से उसका विवाह कर दिया था। प्रथानुसार ही उस आंख मिचौनी के खेल में उन्हें प्रेम का रत्न मिल गया। केशव छुटियों में यहां पहली गाड़ी से आता और आख़िरी गाड़ी से जाता। ये दो-चार दिन मीठे स्वप्न के समान कट जाते थे। दोनों, बालकों की भांति रो-रोकर, विदा होते। इसी कोठे पर खड़ी होकर वह उसको देखा करती जब तक निर्दयी पहाड़ियां उसे आड़ में न कर लेतीं।

पर अभी साल भी न गुजरने पाया था कि वियोग ने अपना षड्यंत्र रचना शुरु कर दिया। केशव को विदेश जाकर शिक्षा पूरी करने के लिए एक वृत्ति मिल गई। मित्रों ने बधाइयां दीं। किसके ऐसे भाग्य हैं जिसे बिना माँगे स्वभाव-निर्माण का ऐसा अवसर प्राप्त हो। केशव बहुत प्रसन्न न था। वह इसी दुविधा में पड़ा हुआ घर आया। माता-पिता ने और अन्य संबंधियों ने इस यात्रा का घोर विरोध किया। नगर में जितनी बधाइयां मिली थीं यहां कहीं उससे अधिक बाधाएं मिलीं। किंतु सुभद्रा उच्चाकांक्षाओं की सीमा न थी। वह कदाचित् केशव को इंद्रासन पर बैठा हुआ देखना चाहती थी। उसके सामने तब भी वही पति-सेवा का आदर्श होता था। वह तब भी उसके सिर में तेल डालेगी,

उसकी धोती छांटेगी, उसके पैर दबाएगी और उसके लिए पंखा झलेगी। उपासक की महत्त्वाकांक्षा उपास्य के ही प्रति होती है, वह उसके लिए सोने का मंदिर बनाएगा, उसके सिंहासन को रत्नों से सजाएगा, स्वर्ग से पुष्प लाकर उसको भेंट करेगा, पर वह स्वयं वही उपासक रहेगा। जटा के स्थान पर मुकुट या कोपीन की जगह पीतांबर की लालसा उसे कभी नहीं सताती। सुभद्रा ने उस वक्त तक दम न लिया, जब तक केशव ने विलायत जाने का वायदा न कर दिया। माता-पिता ने उसे कलंकिनी और न जाने क्या-क्या कहा, पर अंत में वे सहमत होगये। सब तैयारियां हो गईं। स्टेशन समीप ही था। वहां गाड़ी देर तक खड़ी रहती है। स्टेशनों के समीपस्थ गांवों के निवासियों के लिए गाड़ी आना शत्रु का धावा नहीं, मित्र का पदार्पण है। गाड़ी आ गई। सुभद्रा जलपान बनाकर पति के हाथ धुलाने आई थी। इस समय केशव की प्रेम-कातर आपत्ति ने उसे एकक्षण के लिए विचलित करदिया। हा! कौन जानता है तीन साल में क्या हो जाय! मन में एक आवेश उठा-कह दूँ प्यारे मत जाओ। थोड़ा ही खाएंगे, मोटा ही पहिनेंगे, रो-रोकर दिन तो न काटेंगे। कभी केशव के आने में एक-आध महीना लग जाता था, तो वह विकल हो जाया करती थी। यही जी चाहता था कि उड़कर उनके पास पहुंच जाय। फिर ये निर्दयी तीन वर्ष कैसे कटेंगे? लेकिन उसने बड़ी कठोरता से इन निराशाजनक भावों को ठुकरा दिया और कांपते हुए कंठ से बोली—'जी तो मेरा भी यही चाहता है। जब तीन साल का अनुमान करती हूं, तो एक कल्प-सा मालूम होता है। लेकिन जब विलायत में तुम्हारे आदर और सम्मान का ध्यान करती हूँ, तो ये तीन साल तीन दिन-से मालूम होते हैं। तुम तो जहाज़ पर पहुंचते ही मुझे भूल जाओगे। नए-नए दृश्य तुम्हारे मनोरंजन के लिए आ खड़े होंगे। योरप पहुंचकर विद्वानों के सत्संग में तुम्हें घर की याद भी न आएगी। मुझे तो रोने के सिवा और कोई धंधा नहीं है। यही स्मृतियां ही मेरे जीवन का आधार होंगी। लेकिन क्या करूं, जीवन की भोग-लालसा तो नहीं मानती फिर

जिस वियोग का अन्त जीवन की सारी विभूतियां अपने साथ लाएगा वह वास्तव में तपस्या है। तपस्या के बिना तो वरदान नहीं मिलता।'

केशव को भी अब ज्ञात हुआ कि क्षणिक मोह के आवेश में स्वभाव-निर्माण का ऐसा अच्छा अवसर त्याग देना मूर्खता है खड़े होकर बोले—'बहुत रोना-धोना मत, नहीं तो मेरा जी न लगेगा।' सुभद्रा ने उनका हाथ पकड़कर हृदय से लगाते हुए उनके मुंह की ओर सजल नेत्रों से देखा और बोली--'पत्र बराबर भेजते रहना।' 'अवश्य भेजूंगा। प्रति सप्ताह लिखूंगा।'

सुभद्रा ने सजल नेत्रों से मुस्कराकर कहा--'देखना विलायती मिसों के जाल में न फँस जाना।' केशव फिर चारपाई पर बैठ गया और बोला—'अगर तुम्हें यह सन्देह है तो लो मैं जाऊँगा ही नहीं।'

सुभद्रा ने उसके गले में बाहें डाल कर विश्वासपूर्ण दृष्टि से देखा और बोली—'मैं दिल्लगी कर रही थी।'

'अगर इन्द्रलोक की अप्सरा भी आ जाय तो आंख उठाकर न देखूं। ब्रह्मा ने ऐसी दूसरी सृष्टि की ही नहीं।'

'बीच में कोई छुट्टी मिले, तो एक बार चले आना।'

'नहीं प्रिये, बीच में शायद छुट्टी न मिलेगी। मगर जो मैंने सुना कि तुम रो-रोकर घुली जाती हो, दाना-पानी छोड़ दिया है, तो मैं अवश्य चला आऊंगा। यह फूल जरा भी कुम्हलाने न पावे।'

दोनों गले मिलकर विदा हो गए। बाहर सम्बन्धियों और मित्रों का एक समूह खड़ा था। केशव ने बड़ों के चरन छुए, छोटों को गले लगाया और फिर स्टेशन की ओर चला। मित्रगण स्टेशन तक पहुंचाने गए। एक क्षण में गाड़ी यात्री को लेकर चल दी।

उधर केशव गाड़ी में बैठा हुआ पहाड़ियों की बाहर देख रहा था, इधर सुभद्रा भूमि पर पड़ी सिसकियां भर रही थी।

दिन गुजरने लगे, उसी तरह जैसे बीमारी के दिन कटते हैं। दिन पहाड़, रात काली बला। रात-भर मनाते गुजरती थी कि किसी तरह

भोर हो, भोर होता तो मनाने लगती जल्दी शाम हो। मैके गई कि वहां जी बहलेगा, दस-पांच दिन परिवर्तन का कुछ असर हुआ, फिर उससे भी बुरी दशा हुई, भागकर ससुराल चली आई। रोगी करवट बदलकर आराम का अनुभव करता है।

पहले पांच-छः महीनों तक तो केशव के पत्र पन्द्रहवें दिन बराबर मिलते रहे। उनमें वियोग-दुःख के नए-नए दृश्यों का वर्णन अधिक होता था। कुशल से हैं, उसके लिए यही काफ़ी था। इसके प्रतिकूल वह पत्र लिखती, तो विरह-व्यथा के सिवा उसे कुछ सूझता ही न था। कभी-कभी जब जी बेचैन हो जाता, तो पछताती कि व्यर्थ जाने दिया। कहीं एक दिन मर जाऊं तो उनके दर्शन भी न हों।

लेकिन छठे महीने से पत्रों में भी विलंब होने लगा। कई महीने तक तो महीने में एक पत्र आता रहा, फिर वह भी बन्द हो गया। सुभद्रा के ४, ६ पत्र पहुंच जाते, तो एक पत्र आ जाता, वह भी बेदिली से लिखा हुआ—काम की अधिकता और समय के अभाव के रोने से भरा हुआ। एक वाक्य भी ऐसा नहीं, जिससे हृदय को शांति हो, जो टपकते हुए दिल को मरहम रखे। हाय! आदि से अन्त तक 'प्रिये' शब्द का नाम नहीं! सुभद्रा अधीर हो उठी। उसने योरप-यात्रा का निश्चय कर लिया। वह सारे कष्ट सह लेगी, सिर पर जो कुछ पड़ेगी झेल लेगी, केशव को आंखों से देखती तो रहेगी। वह इस बात को उनसे गुप्त रखेगी, उनकी कठिनाइयों को और न बढ़ावेगी, उनसे बोलेगी भी नहीं, केवल उन्हें कभी-कभी आंख भरकर देख लेगी। यह उसकी शान्ति के लिये काफ़ी होगा। उसे क्या मालूम था कि उसका केशव अब उसका नहीं रहा। वह अब एक दूसरी ही कामिनी के प्रेम का भिखारी है।

सुभद्रा कई दिनों तक इस प्रस्ताव को मन में रखे हुए सोचती रही। उसे किसी प्रकार की शंका न होती थी। समाचार-पत्रों के पढ़ते रहने से उसे समुद्री यात्रा का हाल मालूम होता रहता था। एक दिन उसने अपने सास-ससुर के सामने अपना निश्चय प्रकट किया। उन लोगों

ने बहुत समझाया, रोकने की बहुत चेष्टा को, लेकिन उसने अपना हठ न छोड़ा। आख़िर जब लोगों ने देखा कि यह किसी तरह नहीं मानती, तो राज़ी हो गए। मैके वाले भी समझाकर हार गए। कुछ रुपये उसने स्वयं जमा कर रखे थे, कुछ ससुराल में मिले, मा-बाप ने भी मदद की। रास्ते के ख़र्च की चिन्ता न रही। इंगलैंड पहुँचकर वह क्या करेगी, इसका अभी उसने कुछ निश्चय न किया। इतना जानती थी कि परिश्रम करने वाले को रोटियों की कमी नहीं रहती।

विदा होते समय सास और ससुर दोनों स्टेशन तक आये। जब गाड़ी ने सीटी दी, तो सुभद्रा ने हाथ जोड़ कर कहा—'मेरे जाने का समाचार वहां न लिखिएगा। नहीं तो उन्हें चिन्ता होगी और पढ़ने में उनका जी न लगेगा।'

ससुर ने आश्वासन दिया। गाड़ी चल दी।

३

लंदन के उस हिस्से में जहां इस समृद्धि के समय में भी दरिद्रता का राज्य है, ऊपर के एक छोटे-से कमरे में सुभद्रा एक कुर्सी पर बैठी है। उसे यहां आये आज एक महीना हो गया है। यात्रा के पहले उसके मन में जितनी शंकाएं थीं सभी शाँत होती जा रही हैं। बम्बई बंदर में जहाज़ पर जगह पाने का प्रश्न बड़ी आसानी से हल हो गया। वह अकेली औरत न थी जो योरुप जा रही हो। पाँच-छः स्त्रियां और भी उसी जहाज़ से जा रही थीं। सुभद्रा को न जगह मिलने में कोई कठिनाई हुई, न मार्ग में। यहाँ पहुँचकर और स्त्रियों से उसका संग छूट गया। कोई किसी विद्यालय में चली गई, दो-तीन अपने पतियों के पास चली गईं, जो यहीं पहले से आ गए थे। सुभद्रा ने इस मुहल्ले में यह कमरा ले लिया। जीविका का प्रश्न भी उसके लिए बहुत कठिन न रहा। जिन महिलाओं के साथ वह आई थी, उनमें से कई उच्च अधिकारियों की पत्नियां थीं। कई अच्छे-अच्छे अंगरेज़ घरानों से उनका परिचय था। सुभद्रा को दो महिलाओं को भारतीय संगीत और हिन्दी भाषा सिखाने का काम मिल गया। शेष समय में वह कई भारतीय महिलाओं के

कपड़े सीने का काम कर लेती है। केशव का निवास-स्थान वहां से निकट है, इसीलिए सुभद्रा ने इस मुहल्ले को पसंद किया है। कल केशव उसे दिखाई दिया था। ओह! उसे उतरते देखकर उसका चित्त कितना आतुर हो उठा था। बस यही मन में आता था कि दौड़कर उनके गले से लिपट जाय और पूछे—'क्यों जी, तुम यहां आते ही बदल गए। याद है तुमने चलते समय क्या-क्या वायदे किए थे।' उसने बड़ी मुश्किल से अपने को रोका था। तब से इस वक्त तक उसे मानो नशा-सा छाया हुआ है। वह उनके इतने समीप है! चाहे तो रोज़ उन्हें देख सकती है। उनकी बातें सुन सकती है, हां, उन्हें स्पर्श तक कर सकती है। अब वे उससे भागकर कहाँ जायंगे! उनके पत्रों की अब उसे क्या चिन्ता है। कुछ दिनों के बाद संभव है वह उनके होटल के नौकरों से जो चाहे पूछ सकती है।

संध्या हो गई थी। धुएं में बिजली की लालटेनें रोंधी आंखों की भांति ज्योतिहीन-सी हो रही थीं। गली में स्त्री-पुरुष सैर करने चले जा रहे थे। सुभद्रा सोचने लगी, इन लोगों को आमोद से कितना प्रेम है, मानों किसी को चिंता ही नहीं, मानो सभी सम्पन्न हैं। जभी ये लोग इतने एकाग्र होकर सब काम कर सकते हैं। जिस समय जो काम करते हैं, जी-जान से करते हैं। खेलने की उमंग है, तो काम करने की भी उमंग है। और एक हम हैं कि न हंसते हैं न रोते हैं, मौन बने रहते हैं, स्फूर्ति का काम नहीं, काम तो सारे दिन करते हैं, भोजन करने की फुरसत भी नहीं मिलती, पर वास्तव में चौथाई समय भी काम में नहीं लगाते। केवल काम करने का बहाना करते हैं; मालूम होता है जाति प्राण-शून्य हो गई है।

सहसा उसने केशव को जाते देखा। हां, केशव ही था। वह कुर्सी से उठकर बरामदे में चली आई। प्रबल इच्छा हुई कि जाकर उनके गले से लिपट जाए। उसने अगर अपराध भी किया है, तो उन्हीं के कारण तो? यदि वे बराबर पत्र लिखते जाते तो वह क्यों आती?

लेकिन केशव के साथ यह युवती कौन है ? अरे ! केशव उसका हाथ पकड़े हुए है। दोनों मुसकरा कर बातें करते चले जाते हैं। यह युवती कौन है ?

सुभद्रा ने ध्यान से देखा। युवती का रंग सांवला था, यह भारतीय बालिका थी। उसका पहनावा भारतीय था। इससे ज्यादा सुभद्रा को और कुछ न दिखाई दिया। उसने तुरंत जूते पहने, द्वार बंद किया और एक क्षण में गली में आ पहुंची। केशव अब दिखाई न देता था, पर वह जिधर गया था उधर ही वह बड़ी तेज़ी से लपकी चली जाती थी। उसके पांव इतनी तेज़ी से उठ रहे थे, मानों दौड़ रही हो। पर इतनी जल्द दोनों कहां अदृश्य हो गए। अब तक उसे उन लोगों के समीप पहुंच जाना चाहिये था। शायद दोनों किसी बस पर जा बैठे!

अब वह गली समाप्त करके एक चौड़ी सड़क पर आ पहुंची थी। दोनों तरफ बड़ी-बड़ी जगमगाती हुई दुकानें थीं। क़दम-क़दम पर होटल और रेस्ट्रां थे। सुभद्रा दोनों ओर सचेष्ट नेत्रों से ताकती, पग-पग पर भ्रांति के कारण मचलती कितनी दूर निकल गई, कुछ ख़बर नहीं।

फिर उसने सोचा। यों कहां तक चली जाऊंगी, कौन जाने किधर गए। चलकर फिर अपने बरामदे से देखूं। आख़िर इधर से गए हैं तो इधर ही से लौटेंगे भी। यह ख़याल आते ही वह घूम पड़ी और उसी तरह दौड़ती हुई अपने स्थान की ओर चली। जब वहां पहुंची, तो बारह बज गए थे, और इतनी देर उसे चलते ही गुज़री! एक क्षण भी उसने कहीं विश्राम नहीं किया!

वह ऊपर पहुँची, तो गृह-स्वामिनी ने कहा—'तुम्हारे लिये बड़ी देर से भोजन रखा हुआ है।'

सुभद्रा ने भोजन अपने कमरे में मंगा लिया, पर खाने की सुधि किसे थी। वह उसी बरामदे में, उसी तरफ टकटकी लगाए खड़ी थी, जिधर से केशव गया था।

एक बज गया, दो बजे, फिर भी केशव नहीं लौटा। उसने मन में कहा, 'वे किसी दूसरे मार्ग से चले गए। मेरा यहां खड़ा रहना व्यर्थ है। चलूं सो रहूँ। लेकिन फिर ख़याल आ गया कहीं आ न रहे हों।

मालूम नहीं उसे कब नींद आ गई।'

४

दूसरे दिन प्रातःकाल सुभद्रा अपने काम पर जाने को तैयार हो रही थी कि एक युवती रेशमी साड़ी पहने आकर खड़ी हो गई और मुसकरा कर बोली—'क्षमा कीजिएगा, मैंने बहुत सवेरे आपको कष्ट दिया। आप तो कहीं जाने को तैयार मालूम होती हैं।'

सुभद्रा ने एक कुर्सी बढ़ाते हुए कहा—'हां, एक काम से बाहर जा रही थी। मैं आपकी क्या सेवा कर सकती हूँ ?'

यह कहते हुए सुभद्रा ने युवती को सिर से पांव तक उस आलोचनात्मक दृष्टि से देखा, जिससे स्त्रियां ही देख सकती हैं। सौंदर्य की किसी परिभाषा से भी उसे सुन्दरी न कहा जा सकता था। उसका रंग सांवला, मुंह कुछ चौड़ा, न कि कुछ चपटा, क़द भी छोटा और शरीर भी कुछ स्थूल था। आंखों पर ऐनक लगी हुई थी। लेकिन इन सब कारणों के होते हुए भी उसमें कुछ ऐसी बात थी जो आंखों को अपनी ओर खींच लेती थी। उसकी वाणी इतनी मधुर, इतनी संयमित, इतनी विनम्र थी कि जान पड़ता था किसी देवी का वरदान हो। एक-एक अंग-प्रत्यंग से प्रतिभा विकीर्ण हो रही थी। सुभद्रा उसके सामने हलकी, तुच्छ मालूम होती थी। युवती ने कुर्सी पर बैठते हुए कहा—

'अगर मैं भूलती हूँ तो मुझे क्षमा कीजिएगा। मैंने सुना है कि आप कुछ कपड़े भी सीती हैं, जिसका प्रमाण यह है कि यहां सीविंग मशीन मौजूद है।'

सुभद्रा—'मैं दो लेडियों को भाषा पढ़ाने जाया करती हूं। शेष समय में कुछ सिलाई भी कर लेती हूं। आप कपड़े लाई हैं ?'

'नहीं, अभी कपड़े नहीं लाई।' यह कहते हुए उस युवती ने लज्जा से सिर झुकाकर मुस्कराते हुए कहा-'बात यह कि…मेरी शादी होने

जा रही है। मैं अपने वस्त्राभूषण सब हिन्दुस्तानी रखना चाहती हूं। विवाह भी वैदिक रीति से ही होगा। ऐसे कपड़े यहां आप ही तैयार कर सकती हैं।'

सुभद्रा ने हंसकर कहा—'मैं ऐसे अवसर पर आपके जोड़े तैयार करके अपने को धन्य समझूंगी। वह शुभ तिथि कब है ?'

युवती ने सकुचाते हुए कहा—'वह तो कहते हैं इसी सप्ताह में हो जाय, पर मैं उन्हें टालती आती हूं। मैंने तो चाहा था कि भारत लौटने पर विवाह होता, पर वह इतने उतावले हो रहे हैं कि कुछ कहते नहीं बनता अभी तो मैंने यही कहकर टाला कि मेरे कपड़े सिल रहे हैं।'

सुभद्रा—'तो मैं आपके जोड़े बहुत जल्द दे दूँगी।'

युवती ने हंसकर कहा—'मैं तो चाहती थी कि आप महीनों लगा देतीं।'

सुभद्रा—'वाह, मैं इस शुभ कार्य में क्यों विघ्न डालने लगी। मैं इसी सप्ताह में आपके कपड़े दे दूंगी और उनसे इसका पुरस्कार लूंगी।

युवती खिलखिलाकर हंसी। कमरे में प्रकाश की लहरें-सी उठ गईं। बोली—'इसके लिए तो पुरस्कार वह देंगे। बड़ी खुशी से देंगे और तुम्हारे कृतज्ञ होंगे। मैंने तो प्रतिज्ञा की थी कि विवाह के बंधन में पड़ूंगी ही नहीं, पर उन्होंने मेरी प्रतिज्ञा तोड़ दी। अब मुझे मालूम हो रहा है कि प्रेम की बेड़ियां कितनी आनन्दमयी होती हैं। तुम तो अभी हाल ही में यहां आई हो। तुम्हारे पति भी साथ होंगे ?'

सुभद्रा ने बहाना किया। बोली—'वह इस समय जर्मनी में हैं संगीत से उन्हें प्रेम है। संगीत ही का अध्ययन करने के लिये वहां गए हैं। तुम भी कुछ संगीत जानती हो ?'

'बहुत थोड़ा।'

'केशव को संगीत से बड़ा प्रेम है।'

केशव का नाम सुनकर सुभद्रा को ऐसा मालूम हुआ, जैसे बिच्छू ने काट लिया हो। वह चौंक पड़ी।

युवती ने पूछा–'आप चौंक गईं ? क्या केशव को जानती हो ?'

सुभद्रा ने बात बनाकर कहा-'नहीं,मैंने यह नाम कभी नहीं सुना। वह यहां क्या करते हैं ?'

सुभद्रा को ख़याल आया, क्या केशव किसी दूसरे आदमी का नाम नहीं हो सकता। इसीलिए उसने यह प्रश्न किया था। उसी जवाब पर उसकी ज़िन्दगी का फैसला था।

युवती ने कहा—'वह यहां विद्यालय में पढ़ते हैं। भारत-सरकार ने उन्हें भेजा है। अभी साल-भर भी तो आए नहीं हुआ। तुम देखकर प्रसन्न होगी। तेज और बुद्धि की मूर्ति समझ लो। यहां के अच्छे-अच्छे प्रोफ़ेसर उनका आदर करते हैं। ऐसा सुन्दर भाषण तो मैंने और किसी के मुंह से सुना ही नहीं। उनका जीवन आदर्श है। मुझसे उन्हें क्यों प्रेम हो गया, मुझे इसका आश्चर्य है। मुझमें न रूप है, न लावण्य। यह मेरा सौभाग्य है। तो मैं शाम को कपड़े लेकर आऊंगी।'

सुभद्रा ने मन में उठते आवेश के वेग को संभालकर कहा-'अच्छी बात है।'

जब युवती चली गई,तो सुभद्रा फूट-फूटकर रोने लगी। ऐसा जान पड़ता था मानों देह में रक्त ही नहीं, मानों प्राण निकल गए हैं। वह कितनी निःसहाय, कितनी दुर्बल है, इसका आज अनुभव हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानों संसार में उसका कोई नहीं है। अब उसका जीवन व्यर्थ है। उसके लिए अब जीवन में रोने के सिवा और क्या है ! उसकी सारी ज्ञानेंद्रियां शिथिल-सी हो गई थीं मानों वह किसी ऊंचे वृक्ष से गिर पड़ी हो। हा ! यह उसके प्रेम और भक्ति का पुरस्कार है। उसने कितना आग्रह करके केशव को यहाँ भेजा था। इसीलिए कि यहाँ आते ही वे उसका सर्वनाश कर दें।

पुरानी बातें याद आने लगीं। केशव की वह प्रेमातुर आँखें सामने आ गईं। वह सरल, सहज मूर्ति आंखों के सामने नाचने लगी। उसका ज़रा सिर धमकता था, तो केशव कितना व्याकुल हो जाता था। एक बार जब उसे फ़सली बुख़ार आ गया था, तो केशव कितना घबराकर,

पंद्रह दिन की छुट्टी लेकर घर आ गया था और सिराहने बैठा रात-रात भर पंखा झलता रहता था वही केशव अब इतनी जल्दी उससे ऊब उठा ! उसके लिये सुभद्रा ने कौन-सी बात न उठा रखी थी। वह तो उसी को अपना जीवनधन, अपना सर्वस्व समझती थी। नहीं-नहीं, केशव का दोष नहीं, सारा दोष इसी का है, इसी ने अपनी मधुर बातों से उन्हें वशीभूत कर लिया है। इसकी विद्या, बुद्धि और वाक्पटुता ही ने उनके हृदय पर विजय पाई है। हाय ! उसने कितनी बार केशव से कहा था, मुझे भी पढ़ाया करो, लेकिन उन्होंने हमेशा यही जवाब दिया तुम जैसी हो मुझे वैसी ही पसंद हो। मैं तुम्हारी स्वाभाविक सरलता को पढ़ा-पढ़ाकर मिटाना नहीं चाहता। केशव ने उसके साथ कितना बड़ा अन्याय किया है। लेकिन यह उनका दोष नहीं, यह इसी यौवन मतवाली छोकरी की माया है।

सुभद्रा को इस ईर्ष्या और दुःख के आवेश में अपने काम पर जाने की सुध न रही। वह कमरे में इस तरह टहलने लगी जैसे किसी ने ज़बरदस्ती उसे बंद कर दिया हो। कभी दोनों मुट्ठियाँ बंध जातीं, कभी दांत पीसने लगती, कभी ओंठ काटती। उन्माद की-सी दशा हो गई। आँखों में भी एक तीव्र ज्वाला चमक उठी। ज्यों-ज्यों केशव के इस निष्ठुर आघात को वह सोचती, उन कष्टों को याद करती जो उसने उसके लिये झेले थे, उसका चित्त प्रतिकार के लिये विकल होता जाता था। अगर कोई बात हुई होती, आपस में कुछ मनोमालिन्य का लेश भी होता, तो उसे इतना दुःख न होता। यह तो उसे ऐसा मालूम होता था कि मानों कोई हंसते-हंसते अचानक गले पर चढ़ बैठा, अगर वह उनके योग्य नहीं थी, तो उन्होंने उससे विवाह क्यों किया था ! विवाह करने के बाद भी उसे क्यों न ठुकरा दिया था ! क्यों प्रेम का बीज बोया था ! और आज जब वह बीज पल्लवों से लहराने लगा, उसकी जड़ें उसके अन्तस्तल के एक-एक अणु में प्रविष्ट हो गईं, उसका सारा रक्त, उसका सारा उत्सर्ग उसको सींचने और पालने में प्रवृत्त हो गया, तो वह

आज उसे उखाड़कर फेंक देना चाहते हैं। क्या उसके हृदय के टुकड़े-टुकड़े हुए बिना वृक्ष उखड़ जाएगा ?

सहसा उसे एक बात याद आ गई। हिंसात्मक सन्तोष से उसका उत्तेजित मुख-मंडल और भी कठोर हो गया। केशव ने अपने विवाह की बात इस युवती से गुप्त रखी होगी ! सुभद्रा इसका भंडाफोड़ करके केशव के सारे मंसूबों को धूल में मिला देगी। उसे अपने ऊपर क्रोध आया कि युवती का पता क्यों न पूंछ लिया। उसे एक पत्र लिखकर केशव की नीचता, स्वार्थपरता और कायरता की कलई खोल देती, उसके पांडित्य, प्रतिभा और प्रतिष्ठा को धूल में मिला देती। खैर, संध्या-समय तो वह कपड़े लेकर आवेगी ही। उस समय उससे सारा कच्चा चिट्ठा बयान कर दूंगी।

५

सुभद्रा दिन-भर युवती का इन्तज़ार करती रही। कभी बरामदे में आकर इधर-उधर निगाह दौड़ाती, कभी सड़क पर देखती पर उसका कहीं पता न था। मन में झुंझलाती थी कि उसने क्यों उसी वक्त सारा वृत्तांत न कह सुनाया।

केशव का पता उसे मालूम था। उस मकान और गली का नम्बर तक याद था, जहां से वह उसे पत्र लिखा करता था। ज्यों-ज्यों दिन ढलने लगा और युवती के आने में विलंब होने लगा, उसके मन में एक तरंग-सी उठने लगी कि जाकर केशव को फटकारे, उसका सारा नशा उतार दे, कहे—तुम इतने भयंकर हिंसक हो, इतने महान् धूर्त हो, यह मुझे मालूम न था। तुम यही विद्या सीखने यहां आये थे ? तुम्हारे सारे पांडित्य का यही फल है। तुम एक अबला को, जिसने तुम्हारे ऊपर अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, यों छल सकते हो ! तुममें क्या मनुष्यता नाम को भी नहीं रह गई ? आखिर तुमने मेरे लिए क्या सोचा है ? मैं सारी ज़िंदगी तुम्हारे नाम को रोती रहूँ ! लेकिन अभिमान हर बार उसके पैरों को रोक लेता। नहीं जिसने उसके साथ ऐसा कपट किया है, उसके पास वह न जायगी। वह उसे देखकर अपने आंसुओं को रोक

सकेगी या नहीं, इसमें उसे संदेह था; और केशव के सामने वह रोना नहीं चाहती थी। अगर वह उससे घृणा करता है, तो वह भी उससे घृणा करेगी। संध्या भी हो गई, पर युवती न आई, बत्तियां भी जलीं, पर उसका पता नहीं।

एकाएक उसे अपने कमरे के द्वार पर किसी के आने की आहट मालूम हुई। वह कूदकर बाहर निकल आई। युवती कपड़ों का एक पुलिंदा लिए सामने खड़ी थी। सुभद्रा को देखते ही बोली—'क्षमा करना मुझे आने में देर हो गई। बात यह है कि केशव को किसी बड़े ज़रूरी काम से जर्मनी जाना है। वहां उन्हें एक महीने से ज्यादा लग जायगा। वह चाहते हैं कि मैं भी उनके साथ चलूं। मुझसे उन्हें अपना थीसिस लिखने में बड़ी सहायता मिलेगी। बर्लिन के पुस्तकालयों को छानना पड़ेगा। मैंने भी इसे स्वीकार कर लिया है। केशव की इच्छा है कि जर्मनी जाने के पहले हमारा विवाह हो जाय। कल संध्या समय संस्कार हो जायगा। अब ये कपड़े मुझे आप जर्मनी से लौटने पर दीजिएगा। विवाह के अवसर पर हम मामूली कपड़े पहन लेंगे। और करती क्या। इसके सिवा कोई उपाय न था। केशव का जर्मनी जाना अनिवार्य है।'

सुभद्रा ने कपड़ों को मेज़ पर रखकर कहा—'आपको धोखा दिया गया है।'

युवती ने घबराकर पूछा—'धोखा! कैसा धोखा! मैं बिलकुल नहीं समझी। तुम्हारा मतलब क्या है?'

सुभद्रा ने संकोच के आवरण को हटाने की चेष्टा करते हुए कहा—'केशव तुम्हें धोखा देकर तुमसे विवाह करना चाहता है।'

'केशव ऐसा आदमी नहीं है जो किसी को धोखा दे। क्या तुम केशव को जानती हो?'

'केशव ने तुमसे अपने विषय में सब-कुछ कह दिया है?'

'सब कुछ।'

'कोई बात नहीं छिपाई?'

'मेरा तो यही विचार है कि उन्होंने एक बात भी नहीं छिपाई।'

'तुम्हें मालूम है कि उसका विवाह हो चुका है?'

युवती की मुख-ज्योति कुछ मलिन पड़ गई, उसकी गर्दन लज्जा से झुक गई। अटक-अटककर बोली–'हां······उन्होंने मुझसे······यह बात कही थी।'

सुभद्रा परास्त हो गई। घृणा-सूचक नेत्रों से देखती हुई बोली–'यह जानते हुए भी तुम केशव से विवाह करने पर तैयार हो?'

युवती ने अभिमान से देखकर कहा—'तुमने केशव को देखा है?'

'नहीं, मैंने उन्हें कभी नहीं देखा।'

'फिर तुम उन्हें कैसे जानती हो?'

'मेरे एक मित्र ने मुझसे यह बात कही है। वह केशव को जानता है।'

'अगर तुम एक बार केशव को देख लेतीं, तो मुझसे यह प्रश्न न करतीं। एक नहीं, अगर उन्होंने एक सौ विवाह किए होते, तो भी मैं इनकार न करती। उन्हें देखकर फिर मेरी आंख और किसी पर उठती ही नहीं। अगर उनसे विवाह न करूं, तो फिर मुझे जीवन-भर अविवाहित ही रहना पड़ेगा। जिस समय वे मुझसे बातें करने लगते हैं, मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मेरी आत्मा पुष्प की भांति खिली जा रही है। मैं उसमें प्रकाश और विकास प्रत्यक्ष अनुभव करती हूं। दुनिया चाहे जितना हंसे, चाहे जितनी निंदा करे, मैं केशव को अब नहीं छोड़ सकती। उनका विवाह हो चुका है, यह सत्य है, पर उस स्त्री से उनका मन कभी नहीं मिला। यथार्थ में उनका विवाह अभी नहीं हुआ। वह कोई साधारण, अर्द्ध शिक्षित बालिका है। तुम्हीं सोचो, केशव जैसा विद्वान् उदारचेता, मनस्वी पुरुष ऐसी बालिका के साथ कैसे प्रसन्न रह सकता है? तुम्हें कल मेरे विवाह में चलना पड़ेगा।'

सुभद्रा का चेहरा तमतमाया जा रहा था। केशव ने उसे इतने काले रंगों में रंगा है, यह सोचकर उसका रक्त खौल रहा था। जी में आता था, इसी क्षण इसको दुत्कार दूं, लेकिन उनके मन में कुछ

और ही मंसूबे पैदा होने लगे थे। उसने गंभीर, पर उदासीन भाव से पूछा—'केशव ने कुछ उस स्त्री के विषय में नहीं कहा? वह अब क्या करेगी, कैसे रहेगी?'

युवती ने तत्परता से कहा—'घर पहुँचने पर वे उससे केवल यही कह देंगे कि हम और तुम अब स्त्री और पुरुष नहीं रह सकते। उसके भरण-पोषण का वे उसकी इच्छानुसार प्रबन्ध कर देंगे। इसके सिवा वे और क्या कर सकते हैं? हिंदू-नीति में पति-पत्नी में विच्छेद नहीं हो सकता। पर केवल स्त्री को पूर्ण रीति से स्वाधीन कर देने के विचार से वह ईसाई या मुसलमान होने पर भी तैयार हैं। वे तो अभी उसे इसी आशय का पत्र लिखने जा रहे थे, पर मैंने ही रोक लिया। मुझे उस अभागिनी पर बड़ी दया आती है। मैं तो यहाँ तक तैयार हूं कि अगर उसकी इच्छा हो, तो वह भी हमारे साथ रहे। मैं उसे अपनी बड़ी बहन समझूँगी। किंतु केशव इसमे सहमत नहीं होते।'

सुभद्रा ने व्यंग से कहा—'रोटी-कपड़ा देने को तो तैयार ही हैं, स्त्री को इसके सिवा और क्या चाहिए!'

युवती ने व्यंग की कुछ परवा न करके कहा—'तो मुझे लौटने पर कपड़े तैयार मिलेंगे न?'

सुभद्रा—'हाँ मिल जायंगे।'

युवती—'कल तुम संध्या-समय आओगी?'

सुभद्रा—'नहीं। खेद है, मुझे अवकाश नहीं है।'

युवती ने कुछ न कहा। चली गई।

१

सुभद्रा कितना ही चाहती थी कि इस समस्या पर शांत चित्त होकर विचार करे, पर हृदय में मानों ज्वाला-सी दहक रही थी। जिस केशव के लिये वह अपने प्राणों का कोई मूल्य नहीं समझती थी, वही केशव उसे पैरों से ठुकरा रहा है। यह आघात इतना आकस्मिक, इतना कठोर था कि उसकी चेतना की सारी कोमलता मूर्च्छित हो गई। उसका एक-एक

अणु प्रतिकार के लिये तड़पने लगा। अगर यही समस्या इसके विपरीत होती, तो क्या सुभद्रा की गरदन पर छुरी न फिर गई होती। केशव उसके खून का प्यासा न हो जाता। क्या पुरुष हो जाने से ही सभी बातें क्षम्य और स्त्री हो जाने से सभी बातें अक्षम्य हो जाती हैं? नहीं, इस निर्णय को सुभद्रा की विद्रोही आत्मा इस समय स्वीकार नहीं कर सकती। उसे नारियों के ऊंचे आदर्शों की परवा नहीं है। उन स्त्रियों में आत्माभिमान न होगा। वे पुरुषों की पैरों की जूतियां बनकर रहने ही में अपना सौभाग्य समझती होंगी, सुभद्रा इतनी आत्माभिमान-शून्य नहीं है वह अपने जीते जी यह नहीं देख सकती कि उसका पति उसके जीवन का सर्वनाश करके चैन की वंशी बजाए। दुनिया उसे हत्यारिनी, पिशाचिनी कहेगी, कहे—उसको परवा नहीं। रह रहकर उसके मन में भयकर प्रेरणा होती थी कि इसी समय उसके पास चली जाए, और इसके पहले कि वह उस युवती के प्रेम का आनन्द उठाए, उसके जीवन का अंत कर दे। वह केशव की निष्ठुरता को याद करके अपने मन को उत्तेजित करती थी। अपने को धिक्कार-धिक्कार कर नारी-सुलभ शंकाओं को दूर करती थी। क्या वह इतनी दुर्बल है! क्या उसमें इतना साहस भी नहीं है। इसी वक्त और कोई दुष्ट उसके कमरे में घुस आवे और उसके सत्य का अपहरण करना चाहे, तो क्या यह उसका प्रतिकार न करेगी? आखिर आत्मरक्षा के लिए तो उसने यह ही तो किया है। उसका प्रेम-प्रदर्शन केवल प्रवंचना थी। वह केवल अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिए उसके साथ प्रेम का स्वांग भरता था। फिर उसका वध करना क्या उसका कर्तव्य नहीं?

इस अंतिम कल्पना से सुभद्रा को वह उत्तेजना मिल गई, जो उसके भयंकर संकल्प को पूरा करने के लिए आवश्यक थी। यही वह अवस्था है, जब स्त्री पुरुष के खून की प्यासी हो जाती है।

उसने खूंटी पर लटकता हुआ पिस्तौल उतार लिया और ध्यान से देखने लगी, मानो उसे कभी देखा न हो। कल संध्या-समय जब आर्य-

मंदिर में केशव और उसकी प्रेमिका एक-दूसरे के संमुख बैठे हुए होंगे उसी समय वह इस गोली से केशव की प्रेम-लीलाओं का अंत कर देगी। दूसरी गोली अपनी छाती में मार लेगी! क्या वह रो-रोकर अपना अधम जीवन काटेगी?

७

संध्या का समय था। आर्य-मंदिर के आंगन में वर और वधू इष्ट-मित्रों के साथ बैठे हुए थे। विवाह का संस्कार हो रहा था। उसी समय सुभद्रा पहुँची और बरामदे में आकर एक खँभे की आड़ में इस भांति खड़ी हो गई कि केशव का मुंह उसके सामने था। उसकी आंखों में वह दृश्य खिंच गया, जब आज से तीन साल पहले उसने इसी भांति केशव को मंडप में बैठे हुए आड़ से देखा था। तब उसका हृदय कितना उच्छ्वसित हो रहा था। अँतस्तल में गुदगुदी-सी हो रही थी। कितना अपार अनुराग था, कितनी असीम अभिलाषाएँ थीं, मानों जीवन-प्रभात का उदय हो रहा हो। जीवन मधुर संगीत की भांति सुखद था भविष्य उषास्वप्न की भांति सुन्दर। क्या यह वही केशव है? सुभद्रा को ऐसा भ्रम हुआ, मानों यह केशव नहीं है। हां, यह वह केशव नहीं था। यह उसी रूप और उसी नाम का कोई दूसरा मनुष्य था। अब उसकी मुस-कराहट में, उसके नेत्रों में, उसके शब्दों में, उसके हृदय को आकर्षित करने वाली कोई वस्तु न थी। उसे देखकर वह उसी भांति निःस्पंद, निश्चल खड़ी है,मानों कोई अपरिचित व्यक्ति हो। अब तक केशव का-सा रूपवान्, तेजस्वी, सौम्य शीलवान पुरुष संसार में न था। पर अब सुभद्रा को ऐसा जान पड़ा कि वहाँ बैठे हुए युवकों में और उसमें कोई अन्तर नहीं है। वह ईर्ष्याग्नि,जिसमें वह जली जा रही थी,वह हिंसा-कल्पना जो उसे यहां तक लाई थी, मानो एकदम शाँत हो गई। विरक्ति हिंसा से भी अधिक हिंसात्मक होती है—सुभद्रा की हिंसा कल्पना में एक प्रकार का ममत्व था। उसका केशव, उसका प्राणवल्लभ, उसका जीवन-सर्वस्व और किसी का नहीं हो सकता। पर अब वह ममत्व

नहीं है। वह उसका नहीं है उसे अब परवा नहीं उस पर किसका अधिकार होता है।

विवाह-संस्कार समाप्त हो गया, मित्रों ने बधाइयां दीं, सहेलियों ने मंगल-गान किया, फिर लोग मेज़ों पर जा बैठे, दावत होने लगी, रात के बारह बज गये, पर सुभद्रा वहीं पाषाण-मूर्ति की भांति खड़ी रही मानों कोई विचित्र स्वप्न देख रही हो। हाँ, अब उसे अपने हृदय में एक प्रकार के शून्य का अनुभव हो रहा था, जैसे कोई बस्ती उजड़ गई हो, जैसे कोई संगीत बंद हो गया हो, जैसे कोई दीपक बुझ गया हो।

जब लोग मंदिर से निकले, तो वह भी निकल आई, पर उसे कोई मार्ग न सूझता था। परिचित सड़कें उसे भूली हुई-सी जान पड़ने लगीं, सारा संसार ही बदल गया था। वह सारी रात सड़कों पर भटकती फिरी, घर का कहीं पता नहीं। सारी दूकानें बन्द हो गईं, सड़कों पर सन्नाटा छा गया, फिर भी वह अपना घर ढूँढती हुई चली जा रही थी। हाय! क्या इस भाँति उसे जीवन-पथ में भी भटकना पड़ेगा?

सहसा एक पुलिसमैन ने पुकारा—'मैडम, तुम कहां जा रही हो?'

सुभद्रा ने ठिठककर कहा—'कहीं नहीं।'

'तुम्हारा स्थान कहां है?'

'मेरा स्थान!'

'हां, तुम्हारा स्थान कहां है? मैं तुम्हें बड़ी देर से इधर-उधर भटकते देख रहा हूँ। किस स्ट्रीट में रहती हो?'

सुभद्रा को उस स्ट्रीट का नाम तक न याद था।

'तुम्हें अपने स्ट्रीट का नाम तक याद नहीं?'

'भूल गई, याद नहीं आता।'

सहसा उसकी दृष्टि सामने के एक साइनबोर्ड की तरफ उठी। ओह! यही तो उसकी स्ट्रीट है। उसने सिर उठाकर इधर-उधर देखा। सामने ही उसका डेरा था और इसी गली में, अपने ही घर के सामने न जाने कितनी देर से चक्कर लगा रही थी।

८

अभी प्रातःकाल ही था कि युवती सुभद्रा के कमरे में पहुँची। वह उसके कपड़े सी रही थी। उसका सारा तन-मन कपड़ों में लगा हुआ था। कोई युवती इतनी एकाग्रचित्त होकर अपना शृंगार भी न करती होगी। न-जाने उससे कौन-सा पुरस्कार लेना चाहती थी। उसे युवती के आने की ख़बर भी न हुई।

युवती ने पूछा—'तुम कल मंदिर में नहीं आईं ?'

सुभद्रा ने सिर उठाकर देखा, तो ऐसा जान पड़ा मानो किसी कवि की कोमल कल्पना मूर्तिमयी हो गई है। उसकी रूप-छवि अनिंद्य थी, प्रेम की विभूति रोम-रोम से प्रदर्शित हो रही थी। सुभद्रा दौड़कर उसके गले से लिपट गई, जैसे उसकी छोटी बहन आ गई हो और बोली--'हां, गई तो थी।'

'मैंने तुम्हें नहीं देखा।'

'हां, मैं अलग थी।'

'केशव को देखा ?'

'हां, देखा ?'

'धीरे से क्यों बोलीं ? मैंने कुछ झूठ कहा था !'

सुभद्रा ने सहृदयता से मुस्कराकर कहा—'मैंने तुम्हारी आंखों से नहीं, अपनी आँखों से देखा। मुझे तो वे तुम्हारे योग्य नहीं जंचे। तुम्हें ठग लिया।'

युवती खिलखिलाकर हंसी और बोली—'वाह ! मैं समझती हूं, मैंने उन्हें ठगा है।'

सुभद्रा ने गंभीर होकर कहा—'एक बार वस्त्राभूषणों से सजकर अपनी छवि आइने में देखो, तो मालूम हो।'

'तब क्या मैं कुछ और हो जाऊंगी ?'

'अपने कमरे से फर्श, परदे, तसवीरें, हांड़ियां, गमले आदि निकालकर देख लो, कमरे की शोभा वही रहती है ?'

युवती ने सिर हिलाकर कहा—'ठीक कहती हो। लेकिन आभूषण कहां से लाऊं ! न-जाने अभी कितने दिनों में बनने की नौबत आवे।'

'मैं तुम्हें अपने गहने पहना दूंगी।'

'तुम्हारे पास गहने हैं ?'

'बहुत। देखो, मैं अभी लाकर तुम्हें पहनाती हूँ।'

युवती ने मुंह से तो बहुत नहीं-नहीं किया, पर मन में प्रसन्न हो रही थी। सुभद्राने अपने सारे गहने उसे पहना दिये। अपने पास एक छल्ला भी न रखा। युवती को यह नया अनुभव था। उसे इस रूप में निकलते शर्म तो आती थी, पर उसका रूप चमक उठा था, इसमें संदेह न था। उसने आइने में अपनी सूरत देखी, तो उसकी आंखें जगमगा उठीं मानों किसी वियोगिनी को अपने प्रियतम का संवाद मिला हो। मन में गुदगुदी होने लगी। वह इतनी रूपवती है, उसे इसकी कल्पना भी न थी।

कहीं केशव इस रूप में उसे देख लेते, यह आकांक्षा उसके मन में उदय हुई, पर कहे कैसे। कुछ देर बाद लज्जा से सिर झुकाकर बोली-- 'केशव मुझे इस रूप में देखकर बहुत हंसेंगे।'

सुभद्रा—'हंसेंगे नहीं, बलैया लेंगे, आंखें खुल जायेंगी। तुम आज इसी रूप में उनके पास जाना।'

युवती ने चकित होकर कहा—'सच ! आप इसकी अनुमति देती हैं !'

सुभद्रा ने कहा—'बड़े हर्ष से।'

'तुम्हें संदेह न होगा ?'

'बिलकुल नहीं।'

'और जो मैं दो-चार दिन पहने रहूँ ?'

'तुम दो-चार महीने पहने रहो। आखिर, यहां पड़े ही तो हैं।'

'तुम भी मेरे साथ चलो।'

'नहीं, मुझे अवकाश नहीं है।'

'अच्छा, तो मेरे घर का पता नोट कर लो।'

'हां, लिख दो, शायद कभी आऊं।'

एक क्षण में युवती वहां से चली गई। सुभद्रा अपनी खिड़की पर उसे इस भांति प्रसन्न-मुख खड़ी देख रही थी, मानों उसकी छोटी बहन हो। ईर्ष्या या द्वेष का लेश भी उसके मन में न था।

मुश्किल से एक घंटा गुज़रा होगा कि युवती लौटकर बोली—'सुभद्रा, क्षमा करना, मैं तुम्हारा समय बहुत ख़राब कर रही हूं। केशव बाहर खड़े हैं। बुला लूं?'

एक क्षण के, केवल एक क्षण के लिए, सुभद्रा कुछ घबड़ा गई। उसने जल्दी उठकर मेज़ पर पड़ी हुई चीजें इधर-उधर हटा दीं, कपड़े करीने से रख दिये, अपने उलझे हुए बाल संभाल लिए, फिर उदासीन भाव से मुस्कराकर बोली—'उन्हें तुमने क्यों कष्ट दिया, जाओ बुला लो।

एक मिनट में केशव ने क़दम रखा और चौंककर पीछे हट गये, मानों पांव जल गया हो। मुंह से एक दम चीख़ निकल गई। सुभद्रा गंभीर, शांत, निश्चल अपनी जगह पर खड़ी रही। फिर हाथ बढ़ाकर बोली, मानों किसी अपरिचित व्यक्ति से बोल रही हो—'आइए मिस्टर केशव, मैं आपको ऐसी सुशीला, ऐसी सुन्दरी, ऐसी विदुषी रमणी पाने पर बधाई देती हूँ।'

केशव के मुंह पर हवाइयां उड़ रही थीं। वह पथ-भ्रष्ट-सा बना खड़ा था। लज्जा और ग्लानि से उसके चेहरे पर एक रंग आता था, एक रंग जाता था। यह बात एक दिन होनेवाली थी अवश्य, पर इसी तरह अचानक उसकी सुभद्रा से भेंट होगी, इसका उसे स्वप्न में भी गुमान न था। सुभद्रा से वह यह बात कैसे कहेगा, इसको उसने खूब सोच लिया था, उसके आक्षेपों का उत्तर सोच लिया था, पत्र के शब्द तक मन में अंकित कर लिये थे। यह सारी तैयारियां धरी रह गईं और सुभद्रा से साक्षात् हो गया। सुभद्रा उसे देखकर ज़रा भी नहीं चौंकी। उसके मुख पर आश्चर्य, घबराहट या दुःख का एक चिन्ह भी न दिखाई दिया। उसने उसी भांति उससे बात की, मानों वह कोई अजनबी हो।

वह यहां कब आई, कैसे आई, क्यों आई, कैसे गुजर करती है, यह और इस तरह के असंख्य प्रश्न पूछने के लिये केशवका चित्त चंचल हो उठा। उसने सोचा था, सुभद्रा उसे धिक्कारेगी, विष खाने की धमकी देगी- निष्ठुर निर्दयी और न-जाने क्या-क्या कहेगी। इन सब आपदाओंके लिये वह तैयार था, पर इस आकस्मिक मिलन, इस गर्वयुक्त उपेक्षा के लिये तैयार न था : वह प्रेम-व्रत धारिणी सुभद्रा इतनी कठोर, इतनी हृदय-शून्य हो गई है। अवश्य ही इसे सारी बातें पहले ही मालूम हो चुकी हैं। सबसे तीव्र आघात यह था कि इसने अपने सारे आभूषण इतनी उदारता से दे डाले और, कौन जाने वापस भी न लेना चाहती हो। वह परास्त और अप्रतिभ होकर एक कुरसी पर बैठ गया। उत्तर में एक शब्द भी उसके मुख से न निकला।

युवती ने कृतज्ञता के भाव प्रकट करने के भाव से कहा—"इनके पति इस समय जर्मनी में हैं।" केशव ने आंखें फाड़कर देखा, पर कुछ बोल न सका। ✗

युवती ने फिर कहा—'बेचारी संगीत के पाठ पढ़ाकर और कुछ कपड़े सीकर अपना निर्वाह करती है। वह महाशय यहां आ जाते, तो उन्हें उनके सौभाग्य पर बधाई देती।'

केशव इस पर भी कुछ न बोल सका, पर सुभद्रा ने मुस्कराकर कहा—'वह मुझसे रूठे हुए हैं बधाई पाकर और भी झल्लाते।'

युवती ने आश्चर्य से कहा--'तुम उन्हीं के प्रेम से यहां आई,अपना घर-बार छोड़ा, यहां मेहनत मजदूरी करके निर्वाह कर रही हो, फिर भी वह तुमसे रूठे हुए हैं। आश्चर्य !'

सुभद्रा ने उसी भांति प्रसन्न मुख से कहा-'पुरुष-प्रकृति ही आश्चर्य का विषय है। चाहे मि० केशव इसे स्वीकार न करें !'

युवती ने फिर केशव की ओर प्रेरणा-पूर्ण दृष्टि से देखा,लेकिन केशव उसी भाँति अप्रतिभ बैठा रहा। उसके हृदय पर यह नया आघात था।

युवती ने उसे चुप देखकर उसकी तरफ से सफाई दी—'केशव स्त्री और पुरुष दोनों ही को समान अधिकार देना चाहते हैं।'

केशव डूब रहा था, तिनके का सहारा पाकर उसकी हिम्मत बंध गई। बोला--'विवाह केवल एक प्रकार का समझौता है। दोनों पक्षों को अधिकार है, जब चाहें उसे तोड़ दें।' युवती ने हामी भरी--सभ्य समाज में यह आन्दोलन बड़े जोरों पर है।

सुभद्रा ने शंका की--'किसी समझौते को तोड़ने के लिए कारण भी तो होना चाहिये।'

केशव ने भावों की लाठी का सहारा लेकर कहा--'जब इसका अनुभव हो जाय कि हम इस बंधनसे मुक्त होकर अधिक सुखी हो सकते हैं, तो यही कारण काफी है। स्त्री को यदि मालूम हो जाय कि वह दूसरे पुरुष के साथ···सुभद्रा ने बात काटकर कहा--'क्षमा कीजिए मि० केशव मुझमें इतनी बुद्धि नहीं कि इस विषय पर आपसे विवाद कर सकूं। आदर्श समझौता वही है,जो जीवन पर्यन्त रहे। मैं भारत की नहीं कहती वहाँ तो स्त्री पुरुष की लौंडी है। मैं इंग्लैण्ड की कहती हूँ। यहाँ भी कितनी ही औरतों से मेरी बात-चीत हुई है। वे तलाकों की बढ़ती हुई संख्या को देख कर खुश नहीं होतीं। विवाह का सबसे ऊंचा आदर्श उसकी पवित्रता और स्थिरता पर है। पुरुषों ने सदैव इस आदर्श को तोड़ा है, स्त्रियों ने निबाहा है। अब पुरुषों का अन्याय स्त्रियों को किस ओर ले जायगा, नहीं कह सकती।'

इस गंभीर और संयत कथन ने विवाद का अन्त कर दिया। सुभद्रा ने चाय मंगाई। तीनों आदमियों ने पी। केशव पूछना चाहता था, अभी आप यहां कितने दिनों तक रहेंगी,लेकिन न पूछ सका। वह यहां पन्द्रह मिनट और रहा लेकिन विचारों में डूबा हुआ। चलते समय उससे न रहा गया। पूछ ही बैठा--'अभी आप यहां कितने दिन और रहेंगी?'

सुभद्रा ने जमीन की ओर ताकते हुए कहा--'कह नहीं सकती।'

'कोई जरूरत हो, तो मुझे याद कीजिएगा।'

'इस आश्वासन के लिए आपको धन्यवाद।'

केशव सारे दिन बेचैन रहा। सुभद्रा उसकी आंखों में फिरती रही। सुभद्रा की बातें उसके कानों में गूंजती रहीं। अब उसे उसमें कोई संदेह न था कि उसी के प्रेम में सुभद्रा यहां आई थी। सारी परिस्थिति उसकी समझ में आ गई थी। उस भीषण त्याग का अनुमान करके उसके रोएं खड़े हो गये। यहां सुभद्रा ने क्या-क्या कष्ट झेले होंगे, कैसी-कैसी यातनाएं सही होंगी, सब उसी के कारण। वह उस पर भार न बनना चाहती थी, इसीलिए तो उसने अपने आने की सूचना तक उसे न दी। अगर उसे पहले से मालूम होता कि सुभद्रा वहीं आ गई है, तो कदाचित् उसे उस युवती की ओर इतना आकर्षण ही न होता। चौकीदार के सामने चोर को घर में घुसने का साहस नहीं होता। सुभद्रा को देखकर उसकी कर्तव्य-चेतना जागृत हो गई। उसके पैरों पर गिरकर उससे क्षमा मांगने के लिए उसका मन अधीर हो उठा। वह उसके मुंह से सारा वृत्तान्त सुनेगा। यह मौन उपेक्षा उसके लिये असह्य थी। दिन तो केशव ने किसी तरह काटा: लेकिन ज्यों ही रात को दस बजे, वह सुभद्रा से मिलने चला; युवती ने पूछा कहां जाते हो?

केशव ने बूट का लेस बांधते हुए कहा—'ज़रा एक प्रोफेसर से मिलना है, इस वक्त आने का वादा कर चुका हूँ।'

'जल्द आना।'

'बहुत जल्द आऊँगा।'

'केशव घर से निकला, तो उसके मन में कितनी ही विचार-तरंगें उठने लगीं। कहीं सुभद्रा मिलने से इन्कार कर दे, तो? नहीं ऐसा नहीं हो सकता। वह इतनी अनुदार नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि वह अपने विषय में कुछ न कहे। उसे शांत करने के लिए उसने एक कथा की कल्पना कर डाली। मैं ऐसा बीमार था कि बचने की आशा न थी। उर्मिला ने ऐसा तन्मय होकर उसकी सेवा-शुश्रूषा की कि उसे उससे प्रेम हो गया। कथा का सुभद्रा पर जो असर पड़ेगा, इसके विषय

में केशव को कोई संदेह न था। परिस्थिति का बोध होने पर वह उसे क्षमा कर देगी। लेकिन इसका फल क्या होगा? क्या वह दोनों के साथ एक-सा प्रेम कर सकता है? सुभद्रा के देख लेने के बाद उर्मिला को शायद उसके साथ रहने में आपत्ति न हो। आपत्ति हो ही कैसे सकती है? उससे यह बात छिपी नहीं है। हां, यह देखना है कि सुभद्रा भी इसे स्वीकार करती है, या नहीं। उसने जिस उपेक्षा का परिचय दिया है, उसे देखते हुए तो उसके मानने में संदेह ही जान पड़ता है। मगर वह उसे मनावेगा,उसकी विनती करेगा,उसके पैरों पड़ेगा और अंतमें उसे वह मनाकर ही छोड़ेगा। सुभद्रा के प्रेम और अनुराग का नया प्रमाण पाकर वह मानों एक कठोर निद्रा से जाग उठा था। उसे अब अनुभव हो रहा था कि सुभद्रा के लिये उसके हृदय में जो स्थान था, वह खाली पड़ा हुआ है। उर्मिला उस स्थान पर अपना आधिपत्य नहीं जमा सकती। अब उसे ज्ञात हुआ कि उर्मिलाके प्रति उसका प्रेम केवल वह तृष्णा थी, जो स्वादयुक्त पदार्थों को देखकर ही उत्पन्न होती है। वह सच्ची क्षुधा न थी। अब फिर उसे उसी सरल सामान्य भोजन की इच्छा हो रही थी। विलासिनी उर्मिला कभी इतना त्याग कर सकती थी, इसमें उसे संदेह था।

सुभद्रा के घर के निकट पहुंचकर केशव का मन कुछ कातर होने लगा। लेकिन उसने जी कड़ा करके जीने पर कदम रखा और एक क्षण में सुभद्रा के द्वार पर पहुंचा, लेकिन कमरे का द्वार बंद था। अन्दर भी प्रकाश न था। अवश्य ही वह कहीं गई है, आती ही होगी। तब तक उसने बरामदे में टहलने का निश्चय किया।

सहसा मालकिन आती हुई दिखाई दी। केशव ने बढ़कर पूछा--'आप बता सकती हैं ये महिला कहां गई हैं?'

मालकिन ने, उसे सिर से पांव तक देखकर, कहा—'वे तो आज यहाँ से चली गई।'

'केशव ने हकबकाकर पूछा—'चली गई! कहां चली गई?'

"यह तो मुझ से कुछ नहीं बताया।"

"कब गईं।"

"वे तो दुपहर को ही चली गईं।"

"अपना असबाब लेकर गईं ?",

'असबाब किस के लिए छोड़ जातीं ? हां, एक छोटा-सा पैकेट अपनी एक सहेली के लिए छोड़ गई हैं। उस पर 'मिसेज केशव' लिखा हुआ है। मुझसे कहा कि यदि वे आ जायँ, तो उन्हें दे देना, नहीं तो डाक से भेज देना।"

केशव को अपना हृदय इस तरह बैठता हुआ मालूम हुआ, जैसे सूर्य का अस्त होता है। एक गहरी साँस लेकर बोला—'आप मुझे वह पैकेट दिखा सकती हैं ? केशव मेरा ही नाम है।'

मालकिन ने मुस्करा कर कहा—'मिसेज केशव को कोई आपत्ति तो न होगी ?'

'तो फिर मैं उन्हें बुला लाऊँ ?'

'हाँ उचित तो यही है।'

'बहुत दूर जाना पड़ेगा।'

केशव कुछ ठिठकता हुआ जीनेकी ओर चला, तो मालकिन ने फिर कहा--'मैं समझती हूँ, आप इसे लिए ही जाइए, व्यर्थ आपको क्यों दौड़ाऊँ। मगर कल मेरे पास एक रसीद भेज दीजिएगा। शायद उसकी ज़रूरत पड़े।'

यह कहते हुए उसने एक छोटा-सा पैकेट लाकर केशव को दे दिया, केशव पैकेट लेकर इस तरह भागा, मानों कोई चोर भागा जा रहा हो। इस पैकेट में क्या है, यह जानने के लिए उसका हृदय व्याकुल हो रहा था। उसे इतना बिलंब असह्य था कि अपने स्थान पर जाकर उसे खोले समीप ही एक पार्क था। वहां जाकर उसने बिजली के प्रकाश में उस पैकेट को खोल डाला। उस समय उसके हाथ कांप रहे थे और हृदय

इतने वेग से धड़क रहा था, मानो किसी बन्धु की बीमारी के समाचार के बाद तार मिला हो।

पैकेट का खुलना था कि केशव की आंखों से आंसुओं की झड़ी लग गई। उसमें एक पीले रंग की साड़ी थी,एक छोटी-सी सेंदूर की डिबिया और एक केशव का फोटो-चित्र। साथ ही एक लिफाफा भी था। केशव ने उसे खोलकर पढ़ा। उसमें लिखा था—

"बहन, मैं जाती हूँ। यह मेरे सोहाग का शव है। इसे टेम्स-नदी में विसर्जित कर देना। तुम्हीं लोगों के हाथों यह संस्कार भी हो जाय तो अच्छा।"

—तुम्हारी सुभद्रा"

❀ ❀ ❀

केशव मर्माहत-सा पत्र हाथ में लिए वहीं घास पर लेट गया और फूट-फूट कर रोने लगा।

———

आकाश-दीप

जयशंकर प्रसाद

'बन्दी !'

'क्या है ? सोने दो ।'

'मुक्त होना चाहते हो ?'

'अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो ।'

'फिर अवसर न मिलेगा ।'

'बड़ा शीत है, कहींसे एक कम्बल डालकर कोई शीतसे मुक्त करता ।,

'आँधीकी संभावना है । यही अवसर है, आज मेरे बंधन शिथिल हैं ।

'तो क्या तुम भी बन्दी हो ?'

हां 'धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं ।'

'शस्त्र मिलेगा ?'

'मिल जायगा । पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?'

'हां ।'

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं । दोनों बन्दी आपस में टकराने लगे । पहले बंदी ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया । दूसरे का बंधन खोलने का प्रयत्न करने लगा । लहरों के धक्के एक दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे । मुक्ति की आशा-स्नेह का असम्भावित आलिंगन । दोनों ही अंधकार से मुक्त हो गए । दूसरे बन्दी ने हर्षातिरेक से, उसको गले से लगा लिया । सहसा उस बन्दी ने कहा-'यह क्या ? तुम स्त्री हो ?'

'क्या स्त्री होना कोई पाप है ?'-अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा ।

'शस्त्र कहां है ? तुम्हारा नाम ?'

'चम्पा ।'

तारक-खचित नील अम्बर और नीले समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अंधकार से मिलकर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आंदोलन था। नौका लहरों में विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मत वाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकाल कर, फिर लुढ़कते हुए, बन्दी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत से पथदर्शक ने चिल्लाकर कहा—'आंधी!'

आपत्ति-सूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। बन्दी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर युवक बन्दी लुढ़ककर उस रज्जु के पास पहुँचा जो पोत से संलग्न थी। तारे ढँक गए। तरंगें उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा। भीषण आंधी, पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कंदुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतंत्र थी 'उस संकट में भी दोनों बन्दी खिलखिला कर हँस पड़े। आंधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

३

अनंत जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शांत था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बन्दी मुक्त हैं।

नायक ने कहा—'बुद्धगुप्त! तुमको मुक्त किसने किया?'

कृपाण दिखाकर बुद्धगुप्त ने कहा—'इसने।'

नायक ने कहा—'तो तुम्हें फिर बन्दी बनाऊंगा।'

'किसके लिए? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा—नायक! अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ।'

'तुम? जलदस्यु बुद्धगुप्त? कदापि नहीं।'—चौंककर नायक ने कहा और अपना कृपाण टटोलने लगा। चम्पा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था। वह क्रोध से उछल पड़ा।

'तो तुम द्वन्द्वयुद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ; जो विजयी होगा, वही स्वामी होगा।' इतना कह, बुद्धगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया। चम्पा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया।

भीषण घात-प्रतिघात आरंभ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित गति वाले थे। बड़ी निपुणता से बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़ कर, अपने दोनों हाथ स्वतंत्र कर लिए। चम्पा, भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गए। परन्तु बुद्धगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुँकार से दूसरा हाथ कटि में डाल, उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुद्धगुप्त का विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा। नायक की कायर आंखें प्राण-भिक्षा मांगने लगीं।

बुद्धगुप्त ने कहा—'बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं ?'

'मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ। मैं विश्वासघात न करूंगा।'

बुद्धगुप्त ने उसे छोड़ दिया।

चम्पा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुद्धगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त-बिन्दु विजय तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुद्धगुप्त ने पूछा—'हम लोग कहां होंगे ?'

'बालीद्वीप से बहुत दूर, संभवतः एक नवीन द्वीप के पास, जिनमें अभी हम लोगों का बहुत कम आना-जाना होता है। सिंहल के वणिकों का वहां प्राधान्य है।'

'कितने दिनों में हम लोग वहां पहुंचेंगे ?'

'अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिए खाद्य का अभाव न होगा।'

सहसा नायक ने नाविकों को डांड लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार पकड़कर बैठ गया। बुद्धगुप्त के पूछने पर उसने कहा—'यहाँ एक जलमग्न शैलखंड है। सावधान न रहने से नाव के टकराने का भय है।'

३

'तुम्हें इन लोगों ने बंदी क्यों बनाया ?'

'वणिक मणिभद्र की पाप-वासना ने ।'

'तुम्हारा घर कहाँ है ?'

'जाह्नवी के तट पर । मैं चम्पा-नगरी की एक क्षत्रिय बालिका हूँ। पिता इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे । माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है । तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जल-समाधि ली । एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर एक भयानक अनंतता में निस्सहाय हूँ। अनाथ हूँ । मणिभद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया । मैंने उसे गालियाँ सुनाईं । उसी दिन से बंदी बना दी गई'—चम्पा रोष से जल रही थी ।

'मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ चम्पा ! परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ । अब तुम क्या करोगी ?'

'मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी । वह जहां ले जाय ।' चम्पा की आंखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं । किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे । धवल अपाँग में बालकों के सदृश विश्वास था । हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर कांप गया । उसके मन में एक सम्भ्रम-पूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र-वक्ष पर विलम्बमयी राग-रंजित सन्ध्या थिरकने लगी । चम्पा के असंयत कुंतल उसकी पीठ पर बिखरे थे । दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक वरुण-बालिका ! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा । उसे एक नई वस्तु का पता चला । वह थी—कोमलता !

उसी समय नायक ने कहा—'हम लोग द्वीप के पास पहुँच गये ।'

वेला से नाव टकराई । चम्पा निर्भीकता से कूद पड़ी । माँझी भी उतरे । बुद्धगुप्त ने कहा—'जब इसका कोई नाम नहीं है तो हम लोग इसे चम्पा द्वीप कहेंगे ।' चम्पा हँस पड़ी ।

४

पांच बरस बाद—

शरद के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चंद्र की उज्ज्वल विजय पर अंतरिक्ष में शरद्लक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चम्पा के एक उच्च सौध पर बैठी हुई तरुणी चम्पा दीपक जला रही थी। बड़े यंत्र से अभ्रक की मंजूषा में दीप धरकर उसने अपनी सुकुमार उंगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर चढ़ने लगा। भोली-भोली आंखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गई। चम्पा की कामना थी कि उसका आकाश-दीप नक्षत्रों से हिलमिल जाय; किन्तु वैसा होना असंभव था। उसने आशा-भरी आँखें फिरा लीं।

सामने जल-राशि का रजत शृंगार था। वरुण बालिकाओं के लिए लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैलमालाएं बना रही थीं। और वे मायाविनी छलनाएँ अपनी हँसी का कलनाद छोड़ कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवरों की वंशी की झनकार उनके संगीत-सा मुखरित होता था। चम्पा ने देखा कि तरल संकुल जल-राशि में उसके कंडील का प्रतिबिम्ब अस्त-व्यस्त था। वह अपनी पूर्णता के लिए सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा—'जया!'

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील नभो मंडल-से मुख में शुभ्र नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दांत हँसते ही रहते। वह चम्पा को रानी कहती; बुद्धगुप्त की आज्ञा थी।

'महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।' चम्पा ने कहा। जया चली गई।

दूरागत पवन चम्पा के अंचल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थी। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक

दीर्घकाय वृद्ध पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर उसे चमत्कृत कर दिया। उसने फिर कर कहा—'बुद्धगुप्त !'

'बावली हो क्या? यहां बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है?'

'चीरनिधिशायी अनंत की प्रसन्नता के लिए क्या दासियों से आकाश-दीप जलाऊँ?'

'हँसी आती है। तुम किसको दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो? उसको, जिसको तुमने भगवान् मान लिया है?'

'हां, वह भी कभी भटकते हैं; भूलते हैं; नहीं तो बुद्धगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते?'

'तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चम्पा रानी!'

'मुझे इस बंदीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है महानाविक! परंतु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चम्पा के उपकूल में पण्य लादकर हमलोग सुखी जीवन बिताते थे। इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में—तारकाओं की मधुर ज्योति में—थिरकती थी! बुद्धगुप्त! उस विजय अनंत में जब मांझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे। हम तुम परिश्रम से थक कर पालों में शरीर लपेट कर एक दूसरे का मुंह क्यों देखते थे। वह नक्षत्रों की मधुर छाया—'

'तो चम्पा! अब उससे भी अच्छे ढंग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।'

'नहीं नहीं, तुमने दस्युवृत्ति तो छोड़ दी परंतु हृदय वैसा ही अकरुण सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान् के नाम पर हँसी उड़ाते हो! मेरे आकाश-दीप पर व्यंग कर रहे हो! नाविक! उस प्रचंड आंधी में प्रकाश की एक-एक किरण के लिए हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, जब मैं छोटी थी मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे—

मेरी माता, मिट्टी का दीपक बांस की पिटारी में जलाकर भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टांग देती थी। इस समय वह प्रार्थना करती--'भगवान् ! मेरे पथ-भ्रष्ट नाविक को अंधकार में ठीक पथ पर ले चलना।' और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते--'साध्वी। तेरी प्रार्थना से भगवान् ने भयानक संकटों में मेरी रक्षा की है !' वह गद्‌गद् हो जाती। 'मेरी मा ! आह नाविक ! यह उसी की पुण्य स्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु ! हट जाओ !'—सहसा चम्पा का मुख क्रोध से भीषण होकर रंग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रुप न देखा था। वह ठठाकर हँस पड़ा।

'यह क्या चम्पा ! तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो।'—कहता हुआ चला गया। चम्पा मुट्ठी बांधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

५

निर्जन समुद्र के उपकूलमें वेला से टकराकर लहरें बिखर जाती हैं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया। अपनी शांत गंभीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन्मलिन किरणों से विरक्त था।

चम्पा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गईं। तरंग से उठते पवन ने उनके वसन को अस्त-व्यस्त कर दिया। जयाके संकेत से एक छोटी-सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चम्पा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी।

'इतना जल ! इतनी शीतलता ! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूंगी ? नहीं। तो जैसे बेला से चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूं ? या जलते हुए स्वर्ण-गोलक सदृश अनंत जल में डूबकर बुझ जाऊँ ?'—चम्पा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु में, चौथाई-आधा फिर संपूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निःश्वास लेकर चम्पा ने मुंह फिरा लिया। देखा तो

महानाविक का बजरा उसके पास है। बुद्धगुप्त ने झुककर हाथ बढ़ाया। चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास-पास बैठ गए।

'इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जलमग्न शैल-खंड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चम्पा, तो ?'

'अच्छा होता बुद्धगुप्त ! जल में बंदी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है !'

'आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो ! बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिए नए द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नए राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो···। कहो चम्पा ! वह कृपाण से अपना हृदय-पिण्ड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे !' महानाविक-जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूंजता था, पवन थर्राता था--घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलाई आंखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में, विस्तृत जल-प्रदेश में नील पिंगल संध्या, प्रकृति की एक सहृदय कल्पना, विश्राम को शीतल छाया, स्वप्न-लोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नील जाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिए। वहां एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का। किन्तु उस परिरंभ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

'बुद्धगुप्त ! आज मैं अपना प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया !'--चमककर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया।

'तो आज मैं विश्वास करूँ ? मैं क्षमा कर दिया गया ?'—आश्चर्य-कंपित कंठ से महानाविक ने पूछा।

'विश्वास ? कदापि नहीं बुद्धगुप्त ! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ। मैं

तुम्हें घृणा करती हूं फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अंधेर है जलदस्यु ! तुम्हें प्यार करती हूं।'—चम्पा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन संध्या, तम से अपनी आंखें बन्द करने लगी थी। दीर्घ निश्वास लेकर महानाविक ने कहा—'इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा चम्पा ! यहीं उस पहाड़ी पर। संभव है कि मेरे जीवन की धुँधली संध्या उससे आलोकपूर्ण हो जाय !'

६

चम्पा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैलमाला थी। बहुत दूर तक सिंधुजल में निमग्न थी। सागर का चंचल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाए था। आज उसी शैलमाला पर चम्पा के आदि निवासियों का समारोह था। उन सबों ने चम्पा को वनदेवी-सा सजाया था। ताम्र-लिप्ति के बहुत से सैनिक और नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चम्पा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के लिए सुदृढ़-दीप-स्तंभ बनवाया गया था। आज उसी का महोत्सव है। बुद्धगुप्त स्तंभ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चम्पा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बांसुरी और ढोल बजने लगे। पंक्तियों में कुसुमभूषण से सजीं वन--बालाएँ फूल उछालती हुईं नाचने लगीं।

दीप-स्तंभ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चम्पा ने जया से पूछा—'यह क्या है जया ?—इतनी बालिकाएँ कहाँ से बटोर लाई ?'

'आज रानी का ब्याह है न ?'—कह कर जया ने हँस दिया।

बुद्धगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसे झकझोर कर चम्पा ने पूछा—'क्या यह सच है ?'

'यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह सच भी हो सकता है चम्पा ! कितने वर्षों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती से दबाए हूँ।'

'चुप रहो महानाविक ! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा।'

'मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूं चम्पा ! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।'

'यदि मैं इसका विश्वास कर सकती ! बुद्धगुप्त वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय ! आह ! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते !'

जया नीचे चली गई थी। स्तंभ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुद्धगुप्त और चम्पा एकांत में एक-दूसरे के सामने बैठे थे।

बुद्धगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिए। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा—'चम्पा ! हम लोग जन्मभूमि भारतवर्ष से इतनी दूर इन निरीह प्राणियों में इन्द्र और शची के समान पूजित हैं। पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किए है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश ! वह महिमा की प्रतिमा ! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है, परन्तु मैं क्यों नहीं जाता; जानती हो, इतना महत्त्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूँ ! मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चंद्रकांतमणि की तरह द्रवित हुआ।

'चम्पा ! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़ तन में मुस्कराने लगी। पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शांत और कांत कामना की हँसी खिलखिलाने लगी; पर मैं न हँस सका।

'चलोगी चम्पा ! पोतवाहिनी पर असंख्य धन-राशि लाद कर राज-रानी-सी जन्मभूमि के अंक में ? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिये प्रस्थान करें। महानाविक बुद्धगुप्त की आज्ञा सिंधु

की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोत-पुंज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चम्पा ! चलो।'

चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिए। किसी आकस्मिक झटके ने एक पल भर के लिए दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा—'बुद्धगुप्त ! मेरे लिये सब भूमि मिट्टी हैं; सब जल पवन शीतल हैं। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिए, और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए।'

'तब मैं अवश्य चला जाऊँगा' चम्पा ! यहां रहकर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूंगा—इसमें संदेह है। आह ! किन लहरों में मेरा विनाश हो जाय !'—महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा-'तुम अकेली यहां क्या करोगी ?'

'पहले विचार था कि कभी-कभी इस दीप-स्तंभ पर से आलोक जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल में अन्वेषण करूंगी। किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाश-दीप।'

७

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चम्पा ने अपने दीप-स्तंभ पर से देखा—सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़कर पश्चिम-उत्तर की ओर महा जल-व्याल के समान संतरण कर रही है। उसकी आँखों से आंसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चम्पा आजीवन उस दीप-स्तम्भ में आलोक जलाती ही रही। किन्तु उसके बाद भी बहुत दिन, द्वीप-निवासी, उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश उसकी पूजा करते थे।

एक दिन काल के कठोर हाथों ने उसे भी अपनी चंचलता से गिरा दिया।

———

प्रेम-तरु

सुदर्शन

डेढ़-सौ साल बीत चुके हैं, परन्तु देवी सुलक्खी का नाम आज भी उसी तरह जीता-जागता है। गुरदासपुर के जिले में कड़याला नाम का एक छोटा-सा गांव है, जहां ज्यादा आबादी हिन्दू जाटों की है, वहां आप किसी से पूछिये, वह आपको देवी सुलक्खी की समाधि का पता बता देगा। यहां प्रतिवर्ष मेला लगता है, स्त्रियां रंग-बिरंगे वस्त्र पहनकर आती हैं, और इस पर घी के दीप जलाती हैं। जब बेर पकते हैं तो सब से पहले बेर देवी सुलक्खी की समाधि पर चढ़ाये जाते हैं, इसके बाद लोग खाते हैं। क्या मजाल कि इस समाधि पर बेर चढ़ाये बिना कोई बेर को मुंह भी लगा जाये। दीवाली की रात को लोग पहले यहां दिये जलाते हैं, इसके बाद अपने घर में जलाते हैं। किसी में इतना साहस नहीं कि देवी सुलक्खी की समाधि पर रोशनी किये बिना अपने घर में रोशनी कर ले। ब्याह के बाद दुलहनें पहले यहां आकर अपनी श्रद्धा प्रकट करती हैं, इसके बाद अपने ससुराल में पांव धरती हैं। किसी में हिम्मत नहीं कि गांव की इस रीति को तोड़ सके। देवी की समाधि गांव के मध्य में है। उसके ऊपर श्रद्धालुओं ने संगमरमर की एक सुदृढ़ और सुन्दर छत खड़ी कर दी है। इस छत के ऊपर एक झण्डा लहराता है, जो आस-पास के गांवों से भी नज़र आता है। देवी सुलक्खी ने कोई संग्राम नहीं जीता, न कोई राज्य स्थापित किया, न कोई उसमें विशेष आत्म-शक्ति थी जो लोगों के दिलों को पकड़ लेती, न उसने लोगों के लिए कोई बलिदान किया, वह एक गरीब, सीधी-सादी, अनपढ़, परन्तु सतवन्ती ब्राह्मण-कन्या थी, जो एक मूर्ख और हठी जाट के क्रोध का शिकार हो गई। उसने अपने पति से जो प्रण किया था, उस पर वह ध्रुव के समान अटल रही। इसमें संदेह नहीं, वह साधारण ब्राह्मणों से

ग़रीब थी, परन्तु पतिव्रत धर्म की दौलत से मालामाल थी। वह मर्यादा की पुजारिन थी। उसने जो कहा था, वह करके दिखा दिया। उसके पति ने एक वृक्ष को अपनी सन्तान कहा था, सुलक्खी ने मरते दम तक पति के इस वचन को निबाहा। यही बात है जिसने उसे इतने दिनों के बाद आज भी गांव में जीती-जागती शक्ति बना रखा है। हिन्दू देवी-देवताओं का पूजन करते हैं, मुसलमान पीर-फ़कीरों को मानते हैं, परन्तु देवी सुलक्खी का शासन दोनों के हृदयों पर है। क्या मजाल, जो कोई उसकी अवहेलना कर जाये।

२

देवी सुलक्खी इसी गांव के एक निर्धन ब्राह्मण जयचन्द की स्त्री थी। जयचन्द के घर में स्त्री के अतिरिक्त कोई भी न था—न मां, न बाप, न बहन, न भाई। बस पति-पत्नी ही थे, कोई बाल-बच्चा भी न था। कुछ दिन इलाज करते रहे; परन्तु जब सारा परिश्रम निष्फल हुआ तो भाग्य-विधान पर सन्तुष्ट होकर बैठ रहे। उस युग के ब्राह्मण लोग प्रायः नौकरी इत्यादि न करते थे, न धन-दौलत में उस समय ऐसी मोहनी थी, न लोग धन को दुर्लभ समझ कर उसकी प्राप्ति के लिए अधीर रहते थे। थोड़े ही में गुजारा हो जाता था। एक कमाता था, दस खा लेते थे। आज वह ज़माना कहां? दस कमाने वाले हों, एक बेकार को नहीं खिला सकते। उस समय के ब्राह्मण सारा-सारा दिन पूजा-पाठ में लगे रहते थे। खाने-पीने को जाट जजमानों के यहाँ से आ जाता था। दोनों को किसी प्रकार की चिन्ता न थी। हां, कभी-कभी निःसन्तान होने पर कुढ़ा करते। यदि एक भी बच्चा हो जाता, तो दोनों का मन बहल जाता। उनका जीवन मधुर, प्रकाशमय तथा विनोद-पूर्ण हो जाता। उनको कोई शुगल मिल जाता। अब ऐसा मालूम होता था जैसे उनका घर सूना-सूना है, जैसे उनके लिए दुनिया बिलकुल फीकी-फीकी है, जैसे उनका जीवन लम्बी, अंधेरी समाप्त न होने वाली रात है जिसमें कोई तारा नहीं, कोई चांद नहीं,

केवल निराशा के काले बादल घिरे हुए हैं। उन बादलों में कभी-कभी थोड़ी देर के लिए आशा की बिजली भी चमक जाती है, परन्तु उससे उनके दिलों का अन्धकार बढ़ता ही था, घटता न था। इसी तरह कई वर्ष गुजर गए।

एक दिन जयचन्द ने अपने आंगन के कोने में नवजात बच्चे के समान बेरी का एक पौदा देखा, जो स्वयं ही उग आया था। पौदा बहुत छोटा था और साधारण पौदों से ज़रा भी भिन्न न था, किन्तु जयचंद को ऐसा प्रतीत हुआ, मानों यह पौदा न था, प्रकृति का अद्भुत सौंदर्य था। वे उसके छोटे-छोटे रग-रेशे और चिकनी-चिकनी ज़रा-सी कोपलें देखकर बेसुध हो गए। शान्ति के पुतले पर अशान्ति छा गई। दौड़े-दौड़े सुलक्खी के पास गए, और बोले—'आओ, कुछ दिखाऊं। भगवान् ने हमारे घर बूटा लगाया है, बड़ा सुन्दर है।'

सुलक्खी ने जाकर देखा, तो एक नन्हा-सा पौदा था। बोली—'क्या है यह ? ऐसे प्रसन्न क्यों हो ?'

जयचन्द—'बेरी का पौदा है। अभी छोटा है, चन्द दिनों में बड़ा हो जायगा। इसमें हरे-हरे पत्ते आयेंगे। मीठे-मीठे फल लगेंगे। लम्बी-लम्बी डालियाँ फैला कर खड़ा होगा।'

सुलक्खी ने पुलकित होकर कहा—'सारे आंगन में छाया हो जायगी।'

जयचन्द—'हर साल बेर लगेंगे। खूब मीठे होंगे।'

सुलक्खी—'मैं इसे सदा जल से सींचा करूंगी। थोड़े ही दिनों में बड़ा हो जायेगा। कब तक फैलेगा ?'

जयचन्द--(पौदे को प्रेम-भरी दृष्टि से देखकर)-'चार वर्ष बाद।' तुमने देखा, कैसा प्यारा लगता है ! बड़ा होकर और भी प्यारा लगेगा ! कैसा चिकना है ! कैसा सुन्दर है ! देखकर तबियत हरी हो जाती है !'

सुलक्खी—(सरलता से)-'गरमी के दिन हैं, कुम्हला जायगा। मुझे तो अब भी घबराया हुआ मालूम होता है। ज़रा कोपलें तो देखो,

जैसे प्यास के मारे व्याकुल हो रही हों, कहिए, ताजा जल भर लाऊं, गरमी से बड़ों-बड़ों का बुरा हाल है। यह तो बिलकुल नन्ही-सी जान है! (चुटकी बजाकर) अभी भर लाऊंगी, दो मिनट में।'

जयचन्द—'इस समय तुम कहां जाओगी, मैं जाता हूँ।'

मगर सुलक्खी ने कलसा उठाया और चली गई। थोड़ी देर बाद दोनों पति-पत्नी उस छोटे-से पौदे को पानी से सींच रहे थे। ऐसे प्यार से जैसे उनका जीता-जागता बच्चा हो, ऐसी भक्ति से जैसे उनका देवता हो, ऐसी श्रद्धा से जैसे कोई अमोल वस्तु हो। पौदा सचमुच धूप से कुम्हलाया हुआ था। ठंडा पानी पीकर उसने आंखें खोल दीं। सुलक्खी बोली–'देख लो! अब इसमें ताज़गी आ गई है या नहीं? क्यों?'

जयचन्द—'मुझे ऐसा मालूम होता है, जैसे यह मुस्करा रहा है।'

सुलक्खी—'और मुझे ऐसा मालूम होता है, जैसे यह बातें कर रहा है। कहता है–'मैं तुम्हारा बेटा हूं।''

जयचन्द—'भाई, यह बात तो तुम ने मेरे मुंह से छीन ली। मैं भी यही कहने जा रहा था। हां,बेटा तो है ही। इसे खूब प्यार करोगी न?'

सुलक्खी–'तुम्हारे कहने की क्या आवश्यकता है? अपने बेटे से कौन प्यार नहीं करता?'

जयचन्द—'मैं डरता हूं, कहीं मुझे न भूल जाओ! बड़ी आयु में बालक पाकर स्त्रियाँ पति को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगती हैं, मगर मुझसे तुम्हारी लापरवाही बर्दाश्त न होगी। यह अभी से कहे देता हूं।'

सुलक्खी—'चलो हटो! तुम्हें तो अभी-से डाह होने लगी।'

जयचन्द हंसते-हंसते घर के भीतर चले गये, परन्तु सुलक्खी कई घंटे वहीं धूप में खड़ी बेरी की ओर देखती रही और खुश होती रही। आज भगवान् ने उसके घर बूटा लगा दिया था। आज उसको ऐसा अनुभव हुआ, जैसे वह बांझ नहीं रही—पुत्रवती हो गई है। अबोध बालक छाछ को दूध समझकर खुश हो रहा था।

३

अब जयचन्द और सुलक्खी दोनों को एक काम मिल गया। कभी बेरी को पानी देते कि कुम्हला न जाए, कभी खुरपी लेकर उसके आस-पास की ज़मीन खोदते कि उसे अपनी खुराक प्राप्त करने में दिक्क़त न हो, कभी उसके इर्द-गिर्द बाड़ लगाते कि जीव-जन्तु हानि न पहुंचायें, कभी जो चारपाइयाँ खड़ी करके उस पर चादर फैला देते कि गरमी से सूख न जाये। लोग यह देखते थे, और उनकी इस मूर्खता पर हँसते थे। कोई-कोई कह भी देता था कि इनकी अक्ल मारी गई है, साधारण वृक्ष को पुत्र समझ बैठे हैं।

मगर प्रेम के इन सरल हृदय भक्तों को इसकी ज़रा भी परवाह न थी। उन्हें उस बेरी की कोंपलें बढ़ती देखकर वैसी ही प्रसन्नता होती थी, जैसी माता-पिता को बच्चे के हाथ-पांव बढ़ते देखकर होती है। जयचन्द बाहर से आते तो सबसे पहले बेरी का कुशल-क्षेम पूछते। सुलक्खी रात को कई-कई बार चौंककर उठती, और बेरी को देखने आती—शायद उसे भय था कि कोई इस अनमोल वस्तु को उखाड़ कर न ले जाय।। ऐसे प्रेम, ऐसी सावधानी से किसी ग़रीब विधवा ने अपने एकमात्र पुत्र का भी लालन-पालन शायद ही किया होगा।

धीरे-धीरे यह प्रेम-तरु बढ़ने लगा। अब वह ज़मीन से बहुत ऊपर उठ गया था। उसका तना भी मोटा हो गया था। डालें भी बड़ी-बड़ी हो गई थीं। रात के समय ऐसा सन्देह होता था जैसे वह बांहें फैलाकर किसी से गले मिलने को अधीर हो रहा है। सुलक्खी उसे अपनी बेटी और जयचन्द उसे अपना बेटा कहते थे। उसे देखकर उनकी आंखें चमकने लगती थीं। उनका हृदय-कमल खिल उठता था। वह वृक्ष साधारण वृक्ष न था, उनके रात-दिन के परिश्रम का परिणाम था। इसके लिये उन्होंने अपनी रातों की नींद कुर्बान की थी। इस पर उन्होंने अपने शरीर और आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियां ख़र्च कर दी थीं।

इसी तरह प्रेम-मुहब्बत और लाड़-प्यार के चार वर्ष गुजर गये, और बेरी के फलने के दिन नज़दीक आ गए। जयचन्द और सुलक्खी

दोनों के पांव ज़मीन पर न पड़ते थे। उनकी खुशी का ठिकाना न था। जब बौर आया तो दोनों सारा-सारा दिन आंगन में बैठे उसकी रक्षा किया करते थे। क्या मजाल जो कोई पास भी फटक जाय। जयचन्द अब पहले की तरह पूजा पाठ के पाबन्द न रहे थे। सुलक्खी को अब चरखे का ख़याल न था। साधारण वृक्ष के प्रेम ने उन्हें इस प्रकार बांध लिया था कि ज़रा हिलते भी न थे। हर समय इसी की बातें करते थे। उस वक्त वह इस संसार से बाहर चले जाते थे। सुलक्खी कहती—'तुम्हारे ख्याल में यह पीले रंग का बौर होगा, मगर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरी बेटी ने सोने के भूषण पहने हैं। किस शान से खड़ी है, देखकर मन नाचने लगता है।'

जयचन्द कहते—'यह मेरे बेटे की पहली कमाई है। इसे बौर कौन कहता है? यह तो मोहरें हैं, वल्कि मुझे तो इसके सामने मोहरें भी तुच्छ मालूम होती हैं। उन्हें मनुष्य बनाता है। इसे स्वयं भगवान् अपने हाथों से संवारता है। इसके सामने मोहरें और अशरफ़ियाँ किस काम की? थोड़े दिनों में यह बेर बन जायेंगे। उनमें जो सुन्दरता, जो यौवन, जो मिठास होगी, वह सोने के उन सिक्कों में कहां?'

सुलक्खी कहती--'जिस दिन पहले बेर उतरेंगे, उस दिन मिठाई बांटूंगी।'

जयचन्द कहते—'मैं रतजगा करूंगा, गांव के सारे लोगों को बुलाऊंगा। सारी रात रौनक रहेगी।'

सुलक्खी कहती—'खूब खर्च करना पड़ेगा।'

जयचन्द कहते—'लोग बेटों की ब्याह-शादी में लुटाते हैं। मेरे लिए यही बेटे का ब्याह है। सब कुछ ख़र्च हो जाए, तब भी परवाह नहीं, परन्तु एक बार दिल के अरमान निकल जाँय। कोई अभिलाषा शेष न रह जाय।'

यह सुनकर सुलक्खी किसी दूसरी दुनियां में पहुँच जाती थी। उनके हृदयरूपी समुद्र में खुशी की तरंगें उठने लगती थीं, जैसे चांदनी रात में समुद्र में ज्वार आ जाये।

४

आखिर वह दिन भी आ गया, जिसकी पति-पत्नी दोनों प्रतीक्षा कर रहे थे। पहले दिन बेरी के दो-सौ बेर उतरे। वे बेर इतने मोटे, ऐसे गोल-मोल, ऐसे लाल, इतने सुन्दर और चिकने थे कि देखकर जी खुश हो जाता था। दोपहर का समय था। सुलक्खी ने पुराने ज़माने की हिन्दू स्त्रियों की तरह नये कपड़े पहने, लाल रंग की फुलकारी ओढ़ी, नाक में नथ पहनी, और जाकर जयचन्द के सामने खड़ी हो गई, जैसे उस दिन उसके यहां कोई ब्याह-शादी थी। उसको इन वस्त्रों में देखकर जयचन्द मुग्ध-सा हो गया। थोड़ी देर तक दोनों के मुंह से कोई बात न निकली। आंखें मूंदकर चुपचाप इस अलौकिक आनन्द से आनन्दित होते रहे। जब जयचन्द ने बेर टोकरी में रखे और सुलक्खी से कहा—'जा! जाकर जजमानों के यहाँ गिनकर बीस-बीस बेर दे आ।'

सुलक्खी ने साहसपूर्ण नेत्रों से पति को देखा और प्यार भरी आवाज़ में कहा—'ईश्वर करे खूब मीठे हों। लोग बे-अख़्तियार वाह-वाह कहें। आकर बधाइयां दें। कहें ऐसे बेर सारे गाँव में नहीं हैं।'

जयचन्द ने दस बेर अपने लिए रख लिये थे। उनकी ओर ताकते हुए बोले—'तू ख़्वामख़्वाह मरी जाती है। दूसरों के लिये मीठे न होंगे, न सही; पर हमारे लिये इन से मीठी वस्तु संसार में और कोई नहीं है। यह मैं चखे बिना कह सकता हूँ—'जा! देर हुई जाती है, तू बांटकर आ जाय, तो एक साथ खायँ।'

सुलक्खी ने पति की ओर प्यार से देखकर उत्तर दिया—'मैं एक आध घर में दे लूँ, तो तुम खा लेना। मेरी राह देखने की क्या आवश्यकता है?'

जयचन्द—'वाह! आवश्यकता क्यों नहीं? एक साथ खाएँगे, अकेले में क्या मज़ा आयेगा। ज़रा जल्दी लौट आना, नहीं लड़ाई होगी।'

सुलक्खी ने छोटा-सा घूँघट निकाला, और बेरों की टोकरी उठाकर बांटने चली, जैसे कोई ब्याह-शादी की मिठाई बांटने जा रही हो! थोड़ी

देर में एक जजमान दौड़ता हुआ आया, और बोला—'पण्डितजी ! बधाई है। बेर खूब मीठे निकले।'

जयचन्द का दिल धड़कने लगा। मुंह गुलाब हो गया। बोला—'अच्छा आपने खाये हैं ?'

जजमान—'खाये क्या हैं ! बेर चखा है, मगर वाह भई, वाह ! गुड़ से भी मीठा है, आम से भी मीठा है। कोई और बेर है या नहीं ?'

जयचन्द की आंखें खिली जाती थीं। उन्होंने दो बेर उठाकर जजमान के हाथ में दे दिये। जजमान खाता जाता था और तारीफ़ करता जाता था। कहता था–'पण्डित जी, ये बेर क्या हैं खांड के खिलौने हैं। मेरी इतनी आयु हो गई, मगर ऐसे बेर मैंने आज तक नहीं खाये। परमात्मा जाने इनमें कैसा स्वाद है, मालूम होता है, जैसे कोई खुशबू भरी है, जैसे किसी ने इत्र भर दिया है।'

जयचन्द—'परमात्मा ने हमारी मेहनत सफल कर दी है।'

जजमान–'सारे इलाके में ऐसे बेर मिल जायँ, तो मूंछे मुंड़वा दूं। दूर-नज़दीक से लोग आया करेंगे। मालूम होता है, आपने अभी तक नहीं चखे।'

जयचन्द—'जजमानों का भेंट कर लूँ, फिर खाऊंगा।'

जजमान—'हैरान रह जाओगे। ऐसे बेर काबुल-कन्धार में भी न होंगे। हमारे घर में दस-बीस बेरों से क्या बनता है ? देखते-देखते खतम हो गये। और बेर कब तक उतरेंगे ? हम बीस और लेंगे।'

जयचन्द—'आपका अपना वृक्ष है दो-चार दिन को और उतरेंगे तो भिजवा दूंगा। मुझे दूसरों को खिलाकर जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, वह खाकर नहीं होती। लीजिये, दो और ले जाइये। छै बाकी हैं। हम दोनों तीन-तीन खायेंगे। हमें ये बहुत हैं।'

थोड़ी देर बाद एक और जजमान आया। उसने भी इतनी तारीफ़ की कि जयचन्द की आँखें चमकने लगीं। बोले 'यह प्रेम का वृक्ष है, इसमें प्रेम के बेर लगे हैं। इससे मीठे संसार-भर में न होंगे। भाई,

इतनी मेहनत कौन करता है ? आप दोनों ने एक मिसाल क़ायम कर दी। दो बेर खाये हैं दो और मिल जांय तो मज़ा आ जाये। फ़ालतू हैं, या नहीं ?'

जयचन्द ने मुस्कराकर कहा—'छे बचे हैं। दो आप ले जाइये। दो-दो हम खा लेंगे।'

जजमान–'यह तो अन्याय होगा। रहने दीजिये। फिर सही। और बेर कब तक उतरेंगे ?'

जयचन्द—'आप ले जाइये। हमें स्वाद देखना है। पेट थोड़े भरना है ! (बेर हाथ पर रखते हुए) रात रतजगा है। आइयेगा ना ? कोई बेटे का ब्याह करता है, कोई पोती-पोते का मुण्डन करता है। मेरी आयु में यही एक दिन आया है। यही अन्तिम होगा। और क्या ?'

जजमान—'ज़रूर आऊंगा, पंडितजी ! मगर बेर खूब मोठे हैं, अभी तक मुंह से सुगन्ध आ रही है।'

यह कहकर जजमान चला गया। इतने में दो और आ गये। पंडितजी के चार बेर बाकी थे। उनकी भेंट हो गये। अब उनके पास एक भी बेर न था। पंडितजी दिल में डरे, सुलक्खी से क्या कहूंगा ? कहीं खफ़ा न हो जाय, तैश में न आ जाय। परन्तु सुलक्खी इस प्रकार की स्त्री न थी। सारा माजरा सुनकर बोली—'आपने बहुत अच्छा किया हमारा क्या है ? फिर खा लेंगे। अपनी बेरी है, जब चाहा, दो बेर तोड़ लिए। कहीं मांगने थोड़े जाना है। और क्या ?'

जयचन्द—'गाँव में धूम मच गई है। कहते हैं—'ऐसे बेर दूर-दूर तक नहीं हैं।''

सुलक्खी की आंखों में आंसू आ गये। नथ को संभालते हुए बोली-'सभी कहते हैं—और दो। बेर क्या हैं, खोए के पेड़े हैं।'

जयचन्द—'कहते हैं इनमें सुगन्ध भी है।'

सुलक्खी—'जो खाता है, चटखारे लेता है —ऐसा मज़ा न आम में है, न संतरे में।'

जयचन्द—'यह सब तुम्हारे परिश्रम का फल है। रोज़ पानी दिया करती थीं। तुम्हारे हाथों का पानी अमृत हो गया।'

सुलक्खी—'और जो तुम कपड़ों से छाया करते फिरते थे, उसका कोई असर ही नहीं ? यह सब उसका नतीजा है।'

जयचन्द—'तुम देर से लौटीं, नहीं तो एक-एक खा लेते। अब दो-चार दिन के बाद पकेंगे।'

५

परन्तु जयचन्द के भाग्य में बेर का पकाना लिखा था। बेर खाना नहीं लिखा था। रतजगे के बाद उनको सहसा बुख़ार हो गया, गांव में जैसा इलाज हो सकता था, हुआ। हकीम ने समझा, थकावट का बुख़ार है, साधारण औषधियों से उतर जायगा, परंतु यह थकावट का बुख़ार न था। वह मृत्यु का बुख़ार था, जिसकी दवा दुनिया के बड़े-से-बड़े हकीम के पास भी नहीं। चौथे दिन प्रातः ही जयचन्द सुलक्खी से घंटा भर धीरे-धीरे बातें करते रहे, रोते और रुलाते रहे। दुनियादारी की बातें समझाते रहे। ये बातें उनके जीवन का सार थीं। सुलक्खी ये बातें सुनती थी, और रोती जाती थी। इह समय उसका दिल बस में न था। वह चाहती थी, जिस तरह हो, पति को बचा ले। यदि उसके बस में होता, तो वह अपनी जान देकर भी उन्हें बचा लेती। इसमें उसे ज़रा भी संकोच न होता। परन्तु जो भाग्य में बदा हो, उसे कौन रोक सकता है। थोड़ी देर बाद इधर संसार का सूर्य उदय हो रहा था, उधर जय-चन्द के जीवन और सुलक्खी की दुनिया का सूर्य हमेशा के लिए अस्त हो गया।

अब सुलक्सी संसार में बिलकुल अकेली थी अब उसका सिवा एक छोटे भाई के और कोई भी न था। थोड़े दिन रोती रही। इसके बाद चुप हो गई, इसलिए नहीं कि मृत्यु का शोक भूल गई, बल्कि इसलिए कि उसकी आंखों में आंसू न रहे थे। रो-रो कर आंसू भी समाप्त होजाते हैं। मगर उसके दिल के घाव हमेशा हरे थे। उसे किसी पहलू कल न

पड़ती थी। पति की मृत्युके बाद किसी ने उसे हंसते न देखा। न अच्छा खाती थी, न अच्छा पहनती थी। उसका अधिक समय दुखी लोगों की सेवा में गुज़रता था। गांव में कोई बीमार होता,सुलक्खी पहुँच जाती। फिर उसे सोना हराम था। सिरहाने से न उठती थी। हर समय सेवा में लगी रहती थी। जैसे मां बच्चे की तिमारीदारी कर रही हो। जब वह स्वस्थ हो जाता,तब घर लौटती। उसकी इन सेवाओं ने गांव वालों के मन मोह लिए। वे कहते थे—'यह स्त्री नहीं, देवी है।' अब उन्हें मालूम होता था कि यदि यह न हो तो गांव वालों पर विपत्ति टूट पड़े। उसे दुनिया की किसी वस्तु से प्रेम न था—किसी वस्तु की परवा न थी जैसे, उसने सन्यास ले लिया हो, जैसे उसने दुनिया की हर एक वस्तु का परित्याग कर दिया हो।

परन्तु एक वस्तु से उसे अब भी प्यार था। वह उसकी बेरी थी। वह अब भी उसका उसी तरह ख़याल रखती थी, उसको उसी तरह पानी देती थी, उसी तरह देख-भाल करती थी, गरमी में उसके पत्तों को कुम्हलाया हुआ देखकर अब भी उसी तरह अधीर हो जाती थी, रात की चोक-चौंक कर अब भी उसे देखती थी। बाहर जाती तो भाई लछमन से कह जाती, बेरी का ख़याल रखना। जब बेर लगते तो दो-तीन महीने उसके पास से न उठती, कहीं ऐसा न हो, जानवर आकर कुतर जायें। जब बेर उतरते, तो सारे गांव में बांटती, जिस तरह पहले बांटे थे; मगर आप बेर को मुंह न लगाती थी। न पहले साल खाये थे न अब खाती थी। उसका भाई लछमन खूब पेट भर कर खाता था। वह कहता था, 'ये बेर इस दुनिया के नहीं, स्वर्ग-पुरी के हैं?' कभी-कभी कहता, 'ऐसे बेर स्वर्ग में भी न होंगे।' बहन से कहता—'तू भी चखकर देख।' वह कहती—'वह खाते तो मैं भी खाती। उन्होंने नहीं खाये, मैं भी नहीं खाऊँगी।'

लछमन कहता—'तू अभागी है।'

सुलक्खी उत्तर देती—'अभागी न होती तो वह क्यों मरते ? अब तो सारी आयु इसी प्रकार गुज़र जायगी ।'

गुरदासपुर के कई दुकानदारों ने बेरी मोल लेनी चाही, पर सुलक्खी ने साफ़ इनकार कर दिया । कहा 'मरती मर जाऊँगी, मगर बेरी न दूँगी ।'

एक दुकानदार ने कहा—'दो-सौ रुपये ले ले, बेरी दे दे ।'

सुलक्खी ने उत्तर दिया—'तू दो हज़ार दे, जब भी न बेचूं । दो लाख दे जब भी न बेचूँ ।'

दुकानदार—'तू अजब स्त्री है । न खाती है, न बेचती है ।'

सुलक्खी—'बांटती तो हूँ । मेरे लिए यही खुशी की बात है । मैं नहीं खाती तो क्या हुआ, सारा गाँव तो खाता है ।'

दुकानदार—'परन्तु इससे तुझे क्या मिल जाता है ? जिसको बेर खाने की इच्छा होगी, पैसे देकर ख़रीद लेगा ।'

सुलक्खी ने दुकानदार की ओर करुणापूर्ण दृष्टि से देखा; और कहा—'मैं ब्राह्मणी हूँ कुँजड़िन नहीं, जो अपनी बेरी के बेर बेचूं । न भाई, यह न होगा । तू अपने रुपये ले जा, मुझे यह सौदा मंजूर नहीं ।'

एक दूसरे दुकानदार ने कहा—'तू बेरी बेच दे तो मैं ५००) दूँ । बोल, है इरादा ?'

सुलक्खी—'यह बेरी नहीं है, हमारी औलाद है । अपनी औलाद कौन बेचता है ?'

दुकानदार—'यह तेरा वहम है । आदमी की सन्तान आदमी होती है, वृक्ष नहीं होता ।'

सुलक्खी—'यह अपना-अपना विचार है । कई आदमी ऐसे भी हैं जो ठाकुर को पत्थर कहते हैं ।'

दुकानदार—'मुझे तो वृक्ष ही मालूम होता है ।'

सुलक्खी—'तेरी आँखों में वह ज्योति कहाँ जो इसकी असली सूरत देख सके ? वृक्षों के बेर ऐसे मीठे कहाँ होते हैं !'

लछमन अब तक चुप था, यह सुन कर बोला—'ऐसे मीठे बेर तुमने कहीं और भी देखे हैं ? एक-एक बेर एक-एक आने को भी सस्ता है।'

दुकानदार—'यह ठीक है, किन्तु है तो आख़िर बेरी।'

सुलक्खी—'नहीं भैया ! यह बेरी नहीं है। मेरे स्वामी की यादगार है। जो अपने स्वामी की यादगार को बेच दे उसको मर कर नरक भी न मिलेगा।'

दुकानदार—'अब इसका' या उत्तर दूं ? ५००) थोड़े नहीं होते। तेरी सारी आयु सुख से कट जायेगी।'

सुलक्खी— भैया ! जो सुख मुझे इसको पानी देकर होता है, वह सुख रुपये लेकर न होगा।'

दुकानदार—'तो पानी देने से तुझे कौन रोकता है ? जितना चाहे, पानी दे, अगर तेरा हाथ पकड़ जाऊँ, तो जो चोर की सज़ा वह मेरी सज़ा।'

सुलक्खी—'परन्तु जो बात अब है. वह फिर कहाँ ? अब अपना है, फिर पराया हो जायगा। अब बेर सारे गाँव में बाँटती हूँ, फिर तू हाथ भी न लगाने देगा। गाँव के जिन लोगों के पास पैसे नहीं, वे क्या करेंगे ? बेरों को देखेंगे, और ठण्डी साँस भर कर रह जायेंगे। मुझे कोसेंगे, दिल में गालियां देंगे। अब सबको मुफ़्त मिलते हैं, फिर किसी को न मिलेंगे। गाँव के छोटे-छोटे बच्चे कहेंगे, कैसी ज़ालिम है, चार पैसों की ख़ातिर बेरी बेच दी। न भाई यह कलंक का टीका न ख़रीदूंगी। मैं ग़रीब ही भली।'

यह कहकर सुलक्खी बेरी के पास चली गई, और उसकी डालियों पर हाथ फेरने लगी।

और यह उस स्त्री का हाल था, जिसने किसी पाठशाला में विद्या नहीं पढ़ी थी, जिसने कर्म-धर्म पर कोई व्याख्यान न सुना था, जिसके पास खाने को कुछ न था, जो अपने जजमानों के दान पर निर्वाह करती थी, परन्तु उसका हृदय कितना विशाल, कितना पवित्र

था ! उसने पड़ोसियों के कर्तव्य को किस क़दर ठीक समझा था ! ऐसी पवित्र-हृदया सुशीला, सभ्या देवियां संसार में कम जन्म लेती हैं।

६

कई वर्ष बीत गए।

ज्येष्ठ का महीना था। सुलक्खी बेरी के सारे बेर बांट चुकी थी। अब बेरी पर एक बेर भी बाकी न था। सुलक्खी बेरी के पास खड़ी उस की फलों से खाली डालों को देखती थी, और खुश होती थी कि इस साल का कर्तव्य भी पूरा हो गया। इतने में उसके एक जजमान हाडीराम ने आकर सुलक्खी को नमस्कार किया और बोला—'पण्डितानी जी ? हमारे बेर कहाँ हैं ?'

सुलक्खी के सिर पर जैसे बिजली-सी गिर पड़ी। हैरान था, क्या कहे, क्या न कहे। हाडीराम गांव में सबसे उजड्ड जाट था। ज़रा-ज़रा सी बात पर जोश में आ जाता, और मरने-मारने को तैयार हो जाता था, उसकी लाल आंखें देखकर सारा गांव सहम जाता था। वह अपने परिवार-सहित दो महीने से बाहर गया हुआ था। सुलक्खी एक-दो बार उसके मकान पर गई, और किवाड़ बन्द पाकर लौट आई। इसके बाद, वह उसे भूल-सी गई, और बेर समाप्त हो गए। और अब—

हाडीराम उसके सामने खड़ा था। सुलक्खी ने उसकी ओर ख़तावार निगाहों से देखा, और कहा—'जजमान ! बेर तो ख़तम हो गये।'

हाडीराम ने ज़रा गर्म होकर कहा—'वाह ! ख़तम कैसे हो गए ? हमें तो मिले ही नहीं !'

सुलक्खी—'तब तुम जाने कहाँ चले गए थे। दो बार तुम्हारे मकान पर लेकर गई, दोनों बेर दरवाज़ा बन्द था। लौट आई। इसके बाद मुझे ख़याल नहीं रहा।'

हाडीराम—(त्यौरियां चढ़ा कर)—'ख़याल क्यों नहीं रहा ? इतनी बच्चा भी तो नहीं हो।'

सुलक्खी—(शांति से)—'अब जजमान, तुम से बहस कौन करे, भूल हो गई। अगले साल दुगने ले लेना।'

हाड़ीराम—'खाना तो कभी नहीं भूलती हो, न फसल पर गल्ला मांगना भूलती हो। हमारे बेरों का समय आया तो भूल गईं!'

सुलक्खी—'तुम बाहर चले गए थे। क्या करती?'

हाड़ीराम—बेरी में लगे रहने देती। मैं आता, उतार लेता!'

सुलक्खी—'और जो पककर गिर जाते, तो फिर! अब किसी के मुँह में तो पड़ गये। उस अवस्था में किसी के भी काम न आते।'

हाड़ीराम के नेत्रों से अग्नि की ज्वाला निकलने लगी। गरज कर बोला—'मेरे बेर जब मेरे काम न आयं तो मुझे क्या? चाहे रहें, चाहे मिट्टी में मिल जायँ। मेरे लिये एक-सी बात है। तुम दूसरों को देने वाली कौन थीं?'

अब सुलक्खी को भी क्रोध आया। ज़रा तेज़ होकर बोली—'बेरी मेरी है, तुम्हारी नहीं। जिसको चाहूँ एक बेर भी न दूं, जिसको चाहूँ सब-के-सब दे दूं। बेरी तुम्हारे हाथों बिकी हुई नहीं। तुम बोलने वाले हो कौन?'

हाड़ीराम—'अच्छा, अब हम कौन हो गये?'

सुलक्खी—(उसी तरह गुस्से से)--'मेहनत मैं करती हूँ। रात-दिन मैं जागती हूँ, फिर सारे के सारे बेर बांट देती हूं। आप एक बेर भी नहीं खाती। इस पर भी इतना क्रोध! आख़िर आदमी को कुछ सोचना भी तो चाहिये। जाओ, नहीं दिये न सही। जो कुछ करना हो, कर लो।'

हाड़ीराम दांत पीसता हुआ चला गया। इधर सुलक्खी बेरी के पास जाकर उससे लिपट गई, और बोली—'बेटी! यदि तुम्हारा बाप जीता होता तो इसकी क्या हिम्मत थी, जो यूँ मेरी बेइज़्ज़ती कर जाता।'

इससे तीसरे दिन सुलक्खी एक बीमार बच्चे की सेवा शुश्रूषा कर रही थी कि एक लड़का दौड़ता हुआ आया, और हांफता हुआ बोला--'तुम्हारी बेरी को हाड़ी ने काट दिया। कई लोगों ने मना भी किया, मगर वह कहता था मुझे सुलक्खी ने गाली दी है। सारा आंगन भर गया।

सुलक्खी को ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने गोली मार दी हो। वहां से चली, तो उसे रास्ता न दिखाई देता था। उसके पांव तले से ज़मीन निकली जा रही थी। उस समय उसके शरीर में ज़रा भी शक्ति न थी। पैर इस तरह लड़खड़ा रहे थे, जैसे अभी गिर पड़ेगी। मार्ग के दोनों ओर लोग खड़े उसको देखते थे, और पाहीराम को गालियां देते थे। उस समय उन्हें सुलक्खी का विचार था, हाड़ी का भय न था। वे सुलक्खी के साथ सहानुभूति दिखाना चाहते थे और उन्हें सिवा हाड़ी को गालियां देने के और कोई ढंग न दिखाई देता था।

उधर सुलक्खी का आंगन स्त्री-पुरुषों से भरा था और मध्य में बेरी कटी थी। लोग कहते थे—'कितना ज़ालिम है, ज़रा-सी बात पर बेरी काट दी। काटने पर ही सब्र किया होता, तो ख़ैर थी, अगले वर्ष फिर उग आती; परन्तु इसने तो जड़ें भी उखाड़ दीं। आदमी काहे को है, चंडाल है!'

सहसा सुलक्खी छोटा-सा घूंघट निकाले आई और आँगन में खड़ी हो गई। इसने बेरी की डालों को ज़मीन पर पड़ा देखा, तो उसके हृदय पर छुरियां चल गईं। उसको ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे ये वृक्ष की डालियां नहीं, उसकी संतान के हाथ-पांव हैं। उसने आगे बढ़कर एक-एक डाली को गले लगाया, और रो-रो कर विलाप किया। इस विलाप को सुनकर सभी रोने लगे। सुलक्खी कहती थी—'अरे? तूने मुझे बुला क्यों न लिया? बच्चा पता नहीं जब तुझ पर ज़ालिम का कुल्हाड़ा चला होगा, तेरा दिल क्या कहता होगा। तड़पता होगा। सोचता होगा, मां काहे को है, डायन है। यह कसाई मेरे हाथ-पांव काट रहा है, वह बाहर घूम रही है। बच्चा! मुझे क्या मालूम था तेरे सिर पर मौत खेल रही है। अभी भला-चंगा छोड़ गई थी, अभी-अभी तू बाहें फैलाकर खड़ी थी। तुझे देख कर जी प्रसन्न हो जाता था। इतनी जल्दी तैयारी कर ली। अब लोग तेरे बेरों को तरसेंगे। ऐसे मीठे बेर और यहां कहीं नहीं।'

'तेरे बाप ने मरते समय कहा था, जब तक जीती है इसकी रक्षा करना, और इसके बेर लोगों में बांटना। आज ये दोनों बातें असम्भव हो गई। अब मेरा रहना वृथा है। चल दोनों एक-साथ चलें। वहां तीनों मिल कर रहेंगे।'

यह कह कर उसने बेरी की डालियों की चिता-सी चुनी। नीचे-ऊपर सूखी लकड़ियां डालकर उस पर घी डाला और आग लगा दी। आग की ज्वालायें हवा में उठने लगीं, लोग पीछे हट गये, मगर सुलक्खी उसी जगह जलती हुई बेरी के पास चुपचाप खड़ी उसकी ओर देख रही थी।

सहसा वह चिता में कूद पड़ी। लोगों में हलचल मच गई। 'हैं हैं' करते हुए आगे बढ़े, परन्तु आग की ज्वालाओं ने उनका रास्ता रोक लिया। सुलक्खी आग में बैठी जल रही थी, किन्तु उसके मुख पर ज़रा परेशानी, ज़रा घबराहट न थी, परन्तु आत्मिक प्रकाश था, जैसे उसके लिए आग आग न थी, ठण्डा जल था। इतने में ज्वालाओं में से आवाज़ आई—'मैं मरते समय वसीअत करती हूँ कि मेरे कुल के लोग भविष्य में दान न लें।'

पुरुषों की आंखों से आंसू जारी थे। स्त्रियां फूट-फूटकर रो रहीं थीं, परन्तु सुलक्खी मृत्यु के गरजते हुए शोलों में चुपचाप बैठी थी। देखते-देखते मां बेटे दोनों जल कर भस्म हो गये। कल दोनों ज़िन्दा थे, आज कोई भी न था।

थोड़ी देर बाद सुलक्खी का भाई लछमन और गांव के जाट लाठियां लिये हाड़ीराम को ढूंढते फिरते थे। वे कहते थे—'आज उसको ज़िन्दा नहीं छोड़ेंगे। पहले मारेंगे, फिर बांध कर आग में जला देंगे।'

परन्तु हाड़ीराम जङ्गलों और बनों में मुंह छिपाता फिरता था। इसके बाद उसे किसी ने नहीं देखा। कब मरा? कहां मरा? कैसे मरा? यह किसी को भी मालूम नहीं।

———

विद्रोही

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

१

'मान जाओ' तुम्हारे उपयुक्त यह कार्य न होगा।'

'चुप रहो—तुम क्या जानो।'

'इसमें वीरता नहीं है, अन्याय है।'

'बहुत दिनों की धधकती हुई ज्वाला आज शांत होगी।' शक्तिसिंह ने एक लम्बी सांस फेंकते हुए, अपनी स्त्री की ओर देखा।

'...'

'...'

'कलङ्क लगेगा, अपराध होगा।'

'अपमान का बदला लूंगा। प्रताप के गर्व को मिट्टी में मिला दूंगा। आज मैं विजयी होऊँगा।' बड़ी दृढ़ता से कहकर शक्तिसिंह ने शिविर के द्वार पर से देखा। मुग़ल-सेना के चतुर सिपाही अपने-अपने घोड़ों की परीक्षा ले रहे थे। धूल उड़ रही थी। बड़े साहस से सब एक-दूसरे में उत्साह भर रहे थे।

'निश्चय महाराणा की हार होगी। बाईस हज़ार राजपूतों को दिन-भर में मुग़ल-सेना काटकर सूखे डंठल की भांति गिरा देगी।'—साहस से शक्तिसिंह ने कहा।

'भाई पर क्रोध करके देश-द्रोही बनोगे...'-कहते-कहते उस राजपूत-बाला की आंखों से चिनगारियां निकलने लगीं।

शक्तिसिंह अपराधी की नाईं विचार करने लगा। जलन का उन्माद उसकी नस-नस में दौड़ रहा था। प्रताप के प्राण लेकर ही छोड़ेगा, ऐसी प्रतिज्ञा थी। नादान दिल किसी तरह न मानेगा। उसे कौन समझा सकता था?

रण-भेरी बजी।

कोलाहल मचा। [मुग़ल-सैनिक मैदान में एकत्रित होने लगे। पत्ता-पत्ता खड़खड़ा उठा।

बिजली की भाँति तलवारें चमक रही थीं। उस दिन सब में उत्साह था। युद्ध के लिए भुजायें फड़कने लगीं।

शक्तिसिंह ने घोड़े की लगाम पकड़कर कहा—'आज अन्तिम निर्णय है, मरूँगा या मारकर ही लौटूंगा!'

शिविर के द्वार पर खड़ी मोहिनी अपने भविष्य की कल्पना कर रही थी। उसने बड़ी गम्भीरता से कहा—'ईश्वर सद्बुद्धि दे, यही प्रार्थना है।'

२

एक महत्त्वपूर्ण अभिमान के विध्वंस करने की तैयारी थी। प्रकृति काँप उठी। घोड़ों और हाथियों के चीत्कार से आकाश थरथरा उठा। बरसाती हवा के थपेड़ों से जंगल के वृक्ष रणनाद करते हुए झूम रहे थे। पशु-पक्षी भय से त्रस्त होकर आश्रय ढूंढने लगे। बड़ा विकट समय था।

उस भयानक मैदान में राजपूत-सेना मोरचाबन्दी कर रही थी। हल्दीघाटी की ऊँची चोटियों पर भील लोग धनुष चढ़ाये उन्मत्त के समान खड़े थे।

'महाराणा की जय!'—शैलमाला से टकराती हुई ध्वनि मुग़ल-सेनाओं में घुस पड़ी। युद्ध आरम्भ हुआ। भैरवी रणचण्डी ने प्रलय का राग छेड़ा। मनुष्य हिंस्र जन्तुओं की भाँति अपने-अपने लक्ष्य पर टूट पड़े। सैनिकों के निडर घोड़े हवा में उड़ने लगे। तलवारें बजने लगीं। पर्वतों के शिखरों पर से विषैले बाण मुग़ल-सेना पर बरसने लगे। सूखी हल्दी-घाटी में रक्त की धारा बहने लगी।

महाराणा आगे बढ़े। शत्रु-सेना का व्यूह टूटकर-तितर बितर हो गया। दोनों ओर के सैनिक कट-कट कर गिरने लगे।

देखते-देखते लाशों के ढेर लग गये।

भूरे बादलों को लेकर आंधी आई। सलीम के सैनिकों को बचने का अवकाश मिला। मुग़लों की सेना में नया उत्साह भर गया। तोप के गोले उथल-पुथल करने लगे। धाँय २ करती बन्दूक से निकलती हुई गोलियां दौड़ रही थीं—ओह ! जीवन कितना सस्ता हो गया था !

महाराणा शत्रु-सेना में सिंह की भांति उन्मत्त होकर घूम रहे थे। जान की बाजी लगी थी। सब तरफ से घिरे थे। हमले-पर-हमला हो रहा था। प्राण संकट में पड़े। बचना कठिन था। सात बार घायल होने पर भी पैर उखड़े नहीं, मेवाड़ का सौभाग्य इतना दुर्बल नहीं था।

मानसिंह की कुमंत्रणा सिद्ध होने वाली थी। ऐसे आपत्तिकाल में वह वीर सरदार सेना-सहित वहां कैसे आया? आश्चर्य से महाराणा ने उसकी ओर देखा—वीर मन्नाजी ने उनके मस्तक से मेवाड़ के राजचिन्हों को उतारकर स्वयं धारण कर लिया। राणा ने आश्चर्य और क्रोध से पूछा—'यह क्या ?'

'आज मरने के समय एक बार राज-चिन्ह धारण करने की बड़ी इच्छा हुई है।'—हंसकर मन्ना जी ने कहा। राणा ने उस उन्माद-पूर्ण हंसी में अटल धैर्य देखा।

मुग़लों की सेना में से शक्तिसिंह इस चातुरी को समझ गया उसने देखा घायल प्रताप रण-क्षेत्र से जीते-जागते निकले चले जा रहे हैं और वीर मन्ना जी को प्रताप समझकर मुग़ल उधर ही टूट पड़े हैं।

उसी समय दो मुग़ल-सरदारों के साथ महाराणा के पीछे-पीछे शक्तिसिंह ने अपना घोड़ा छोड़ दिया।

३

खेल समाप्त हो रहा था। स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर सन्नाटा छा गया था। जन्मभूमि के चरणों पर मर मिटने वाले वीरों ने अपने को उत्सर्ग कर दिया था। बाइस हज़ार राजपूत वीरों में से केवल आठ हज़ार बच गये थे।

विद्रोही शक्तिसिंह चुपचाप सोचता हुआ अपने घोड़े पर चढ़ा चला जा रहा था। मार्ग में शव कटे पड़े थे—कहीं भुजाएं शरीर से अलग पड़ी थीं, कहीं धड़ कटा हुआ था, कहीं खून से लथ-पथ मस्तक भूमि पर गिरा हुआ था। कैसा परिवर्तन है!—दो घड़ियों में हंसते-बोलते और लड़ते हुए जीवित पुतले कहां चले गये? ऐसे निरीह जीवन पर इतना गर्व!

शक्तिसिंह की आंखें ग्लानि से छलछला पड़ीं—

'ये सब भी राजपूत थे। मेरी ही जाति के खून थे! हाय रे मैं! मेरा प्रतिशोध पूरा हुआ—क्या सचमुच पूरा हुआ? नही,यह प्रतिशोध नहीं था, अधम शक्त! यह तेरे चिर-कलंक के लिए पैशाचिक आयोजन था। तू भला, पागल! तू प्रताप से बदला लेना चाहता था-उस प्रताप से जो अपनी 'स्वार्गादपि गरीयसी' जननी जन्म-भूमि की मर्यादा बचाने चला था। यह जन्म-भूमि जिसके अन्न-जल से तेरी नसें भी फूली-फली हैं। अब भी माँ की मर्यादा का ध्यान कर।'

सहसा धाँय-धाँय गोलियों का शब्द हुआ। चौंककर शक्तिसिंह ने देखा—दोनों मुग़ल-सरदार प्रताप का पीछा कर रहे थे। महाराणा का घोड़ा लस्त-पस्त होकर झूमता हुआ गिर रहा है। अब भी समय है। शक्तिसिंह के हृदय में भाई की ममता उमड़ पड़ी।

एक आवाज़ हुई—रुको!

दूसरे क्षण शक्तिसिंह की बंदूक छूटी, पलक मारते दोनों मुग़ल-सरदार जहाँ-के-तहाँ ढेर हो गये। महाराणा ने क्रोध से आँख चढ़ाकर देखा, वे आंखें पूछ रही थीं--क्या मेरे प्राण पाकर निहाल हो जाओगे? इतने राजपूतों के खून से तुम्हारी हिंसातृप्ति नहीं हुई?

किन्तु यह क्या शक्तिसिंह तो महाराणा के सामने नतमस्तक खड़ा था। वह बच्चों की तरह फूट-फूट कर रो रहा था। शक्तिसिंह ने कहा—'नाथ! सेवक अज्ञान में भूल गया था, आज्ञा हो तो इन चरणों पर अपना शीश चढ़ाकर पद-प्रक्षालन कर लूँ, प्रायश्चित्त कर लूं!'

राणा ने अपनी दोनों बाहें फैला दीं। दोनों के गले आपस में मिल गये, दोनों की आँखें स्नेह की वर्षा करने लगीं। दोनों के हृदय गद्‌गद् हो गये।

इस शुभ मुहूर्त पर पहाड़ी वृक्षों ने पुष्प-वर्षा की, नदी की कल-कल धाराओं ने वन्दना की।

प्रताप ने उन डबडबाई हुई आँखों से ही देखा--उनका चिर-सहचर प्यारा'चेतक'दम तोड़ रहा है। सामने ही शक्तिसिंह का घोड़ा खड़ा था।

शक्तिसिंह ने कहा—'भैया! अब आप विलम्ब न करें, घोड़ा तैयार है।'

राणा शक्तिसिंह के घोड़े पर सवार होकर, उस दुर्गम मार्ग को पार करते हुए निकल गये।

४

श्रावण का महीना था।

दिन-भर की मार-काट के पश्चात् रात्रि बड़ी सुनसान हो गई थी। शिविरों में से महिलाओं के रोदन की करुणध्वनि हृदय को हिला देती थी।

हज़ारों सुहागिनियों के सुहाग उजड़ गये थे। उन्हें कोई ढाढ़स बंधाने वाला न था; था तो केवल हाहाकार, चीत्कार, कष्टों का अनंत पारावार!

शक्तिसिंह अभी तक अपने शिविर में नहीं लौटा था। उसकी पत्नी भी प्रतीक्षा में विकल थी, उसके हृदय में जीवन की आशा-निराशा क्षण-क्षण उठती-गिरती थी।

अँधेरी रात में काले बादल आकाश में छा गये थे। एकाएक उस शिविर में शक्तिसिंह ने प्रवेश किया। पत्नी ने कौतूहल से देखा, उसके कपड़े खून से तर थे।

'प्रिये!'

'नाथ!'

'तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हुई—मैं प्रताप के सामने परास्त हो गया!'

अन्तःपुर का आरम्भ

राय कृष्णदास

हूं-ऊँ, हूं-ऊँ, हूं-ऊँ, के वज्र-निनाद से सारा जङ्गल दहल उठा, उस गम्भीर, भयावनी ध्वनि ने तीन बार, और उसकी प्रतिध्वनि ने सात-सात बार सातों पर्वत-श्रेणियों को हिलाया। और जब यह हु-हुँकार शांत हुआ, तब निशीथ का सन्नाटा छा गया; क्योंकि पशु-पक्षी किसी की मजाल न थी कि जरा सकपकाता भी।

अब केसरी ने एक बार दर्प से आकाश की ओर देखा, फिर गरदन घुमा-घुमाकर अपने राज्य—वन-प्राँत--की चारों सीमाओं को परताल डाला। उसके घुँघराले केश उसके प्रपुष्ट कंधों पर इठला रहे थे। वह अकड़ता हुआ, डकारता हुआ, निर्द्वन्द मस्तानी चाल से उस टीले के नीचे उतरने लगा, जिस पर से उसने अभी-अभी गर्जना की थी।

उसने एक बार अपनी पूँछ उठाई। उसे कुछ क्षण चँवर की तरह डुलाता रहा, फिर नीचे करके एक बार सिंहावलोकन करता हुआ चलने लगा। उसके घुटनों की धीमी चड़मड़ भी जी दहला देने वाली थी।

ऊपर पहाड़ी में एक गुफा थी। बहुत बड़ी नहीं; छोटी-सी ही। आजकल के सभ्य कहलाने वाले—प्रकृति से लाखों कोस दूर--दो मनुष्य उसमें कठिनता से विश्राम कर सकें। लेकिन यह उस समय की बात है, जब मनुष्य वनौकस था। कृतयुग के आरम्भ की कहानी है।

गुहा का आधा मुँह एक लता के अञ्चल से ढका था। आधे में एक मनुष्य, हम लोगों का पूर्वज, पूरा लम्बा, ऊँचा, पँचहत्था जवान, दैत्य के सदृश बली, मानो उसका शरीर लोहे का बना हो। उसके बायें हाथ में धनुष था और दाहिने हाथ में बाण। कमर में कृष्णाजिन बँधा हुआ था—मौञ्जी मेखला से पीठ पर रुरु के अजिन का उत्तरीय था। उस खाल की दो टांगों की—एक आगे की, दूसरी पीछे की; एक

दाहिनी, दूसरी बाईं की--कैंची की गांठ छाती के पास बँधी हुई थी, बाकी दो लटक रही थीं। चारों में खुर लगे थे। उस पूर्वज का शरीर रोएँ की घनी तह से ढका हुआ था। सिर पर बिखरे बड़े-बड़े बाल। गहबर लट पड़ी हुई दाढ़ी। सहज गौरवर्ण धूप, वर्षा, जाड़े से पक कर तँबिया गया था। शरीर पर जगह-जगह घट्ठे थे--पेड़ पर चढ़ने के,-पहाड़ पर चढ़ने के, रेंगने के, घिसलने के; क्योंकि पुरातन नर की जीवन चर्य्या के ये ही समय-यापन थे। और, एक बड़ा भारी घट्ठा दाहिने हाथ की मुट्ठी पर था—प्रत्यञ्चा खींचने का। अरने भैंसे की सींग का बना, पुरसा-भर ऊँचा धनुष; उसी की कड़ी मोटी तांत की प्रत्यञ्चा को खींचते-खींचते केवल यह घट्ठा ही नहीं पड़ गया था, प्रत्युत बाहें भी लम्बी हो गई थीं। वे घुटने चूमा चाहती थीं।

उस पुरुष के पीछे थी आद्या नारी। उसको चीतल की चित्र उत्तरीय थी, और कटि में एक वल्कल। एक सुन्दर फूलो लता की टहनी सिर से लिपटी थी, और बिखरो हुई लटों में उलझी थी। कानों में छोटे-छोटे सींग के टुकड़े पड़े हुए थे। हां, वे ही—चूड़ियों के पूर्वज।

वह अपने पुरुष के कन्धे का सहारा लिये, उसी पर अपने दोनों हाथ रक्खे और ठुड्डी गड़ाये खड़ी थी।

पुरुष के अङ्ग फड़क रहे थे। उसने स्त्री से कहा—'देखो आज फिर आया—कल घायल कर चुका हूँ, तिस पर भी!'

'तब आज चलो, निपटा डालें।'

'हां, अभी चला।'

पुरुष अपने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने लगा, और स्त्री ने अपना मठारे हुए चकमक पत्थर के फलवाला भाला सम्हाला। वह उसके बगल में ही दीवार के सहारे खड़ी थी। भाला लेकर उसने पूछा—

'अभी चला?'

'मैं भी तो चलूंगी।'

'नहीं, तुम क्या करोगी? क्या तुम्हें मेरी शक्ति पर सन्देह है?'

'छी ! परन्तु मैं यहाँ अकेली क्या करूँगी ?'

'यहीं से मेरा खेल देखना।' 'नहीं, तुम्हारी रक्षा का ख़याल है।'

'क्यों, आज तक किसने मेरी रक्षा की है ?'

'हाँ, मैं यह नहीं कहता कि तुम अपनी रक्षा नहीं कर सकतीं, पर.........'

'पर.........'

'मेरा जी डरता है।'

'क्यों ?'

'तुम सुकुमारी हो :'

आद्या का मुँह लाल हो उठा। क्रोध से नहीं; यह नये प्रकार की स्तुति थी, इसकी रमणीयता से उसका हृदय गुदगुदा उठा।

उसने मुस्कराकर पूछा—'तो मैं क्या करूँ ?'

'यहाँ बैठी-बैठी तमाशा देखो। मैं एक झङ्खाड़ लगाकर गुफा का मुँह और भी छिपाए देता हूँ। आजकल इन चतुष्पदों ने हम द्विपदों से रार ठान रखी है। देखना सावधान !'

'जाओ ? जाओ ? आज मुझे छल कर तुम मेरे आनन्द में बाधक हुए हो—समझ लूंगी ?'

'नहीं, कहना मानो। हृदय आगा-पीछा करता है, नहीं तो......'

'अच्छा, लेकिन झङ्खाड़ लगाकर क्या करोगे ? क्या मैं इतनी निहत्थी हो गई ?'—शक्ति ने मुस्करा दिया।

'तो चला।'—कहकर पुरुष जब तक चले-चले, तब तक नारी ने उसका हाथ पकड़ लिया—'लेकिन देखो, उसके रक्त से तुम्हें सजाऊँगी मैं ही। और, किसो दूसरे को उसकी खाल भी न लेने देना।'

'नहीं, मैं उसे यहीं उठाये लाता हूँ। अब देर न कराओ। देखो, वह जा रहा है—निकल न जाय !'

ने उत्तेजना दी—'हां, लेना बढ़के !'

पुरुष ने एक बार छाती फुलाकर चीत्कार किया। सिंह ने वह चीत्कार सुना। सिर उठाकर पुरुष की ओर देखा। वहीं तन कर खड़ा हो गया। और पुरुष भी तूफान की तरह उसकी ओर तीर सन्धाने हुए बढ़ा।

एक क्षण में दोनों शत्रु आमने-सामने थे। सिंह टूटा ही चाहता था कि चकमक फलवाला बाण उसका टीका फोड़ता हुआ सन्न करता निकल गया। गुहा में से किलकारी की ध्वनि सुनकर पुरुष का उत्साह और भी बढ़ उठा।

इसी क्षण म्रियमाण सिंह दूसरे आक्रमण की तैयारी में था कि मनुष्य ने उसे गेंद की तरह समूचा उठा लिया, और अपने पुरसे तक ले जाकर धड़ाम से पटक दिया। साथ ही सिंह ने अपने पंजों से अपना ही मुँह नोचते-नोचते, सिर फेंकते-फेंकते, ऐंठते हुए पुनः एक हलकी पछाड़ खाकर अपना दम तोड़ दिया।

नारी गुहा-द्वार के सहारे खड़ी थी। उसका आधा शरीर लता की ओट में था। वहीं से वह अपने पुरुष का पराक्रम देख रही थी, आनन्द की कूकें लगा रही थी।

हां, उसी दिन अन्तःपुर का आरम्भ हुआ था।

विधाता

विनोदशंकर व्यास

'चीने के खिलौने, पैसे में दो; खेल लो, खिला लो, टूट जाय तो खालो—पैसे में दो।'

सुरीली आवाज़ में यह कहता हुआ खिलौने वाला एक छोटी-सी घंटी बजा रहा था।

उसकी आवाज़ सुनते ही त्रिवेणी बोल उठी—'मां, पैसा दो, खिलौना लूंगी।'

'आज पैसा नहीं है, बेटी!'

'एक पैसा मां, हाथ जोड़ती हूं।'

'नहीं है त्रिवेणी, दूसरे दिन ले लेना।'

त्रिवेणी के मुख पर सन्तोष की झलक दिखाई दी।

उसने खिड़की से पुकार कर कहा—'ऐ खिलौने वाले, आज पैसा नहीं है; कल आना।'

'चुप रह, ऐसी बात भी कहीं कही जाती है?' उसकी मां ने भुनभुनाते हुए कहा।

तीन वर्ष की त्रिवेणी की समझ में न आया। किन्तु उसकी मां अपने जीवन के अभाव का पर्दा दुनिया के सामने खोलने से हिचकती थी। कारण, ऐसा सूखा विषय केवल लोगों के हँसने के लिए ही होता है।

और सचमुच—वह खिलौने वाला मुस्कुराता हुआ, अपनी घंटी बजाकर, चला गया।

❀ ❀ ❀

सन्ध्या हो चली थी।

लज्जावती रसोईघर में भोजन बना रही थी। दफ्तर से उसके पति के लौटने का समय था। आज घर में कोई तरकारी न थी पैसे भी न

थे। विजयकृष्ण को सूखा भोजन ही मिलेगा। लज्जा रोटी बना रही थी और त्रिवेणी अपने बाबू जी की प्रतीक्षा कर रही थी।

'माँ, बड़ी तेज़ भूख लगी है।' कातरवाणी में त्रिवेणी ने कहा।

'बाबू जी को आने दो, उन्हीं के साथ भोजन करना, अब आते ही होंगे।' लज्जा ने समझाते हुए कहा।' कारण,एक ही थाली में बैठकर त्रिवेणी और विजयकृष्ण साथ बैठकर भोजन करते थे और उन दोनों के भोजन कर लेने पर उसी थाली में लज्जावती टुकड़ों पर जीनेवाले अपने पेट की ज्वाला को शांत करती थी। जूठन ही उसका सोहाग था!

लज्जावती ने दीपक जलाया। त्रिवेणी ने आँख बन्द कर दीपक को नमस्कार किया? क्योंकि उसकी माता ने प्रतिदिन उसे ऐसा करना सिखाया था।

द्वार पर खटका हुआ। विजय दिन-भर का थका लौटा था त्रिवेणी ने उछलते हुए कहा—'मां, बाबू जी आ गए।'

विजय कमरे के कोने में अपना पुराना छाता रखकर खूंटी पर कुर्ता और टोपी टांग रहा था।

लज्जा ने पूछा—'महीने का वेतन आज मिला न?'

'नहीं मिला, कल बँटेगा। साहब ने बिल पास कर दिया है।' हताश स्वर में विजयकृष्ण ने कहा।

लज्जावती चिन्तित भाव से थाली परोसने लगी। भोजन करते समय, सूखी रोटी और दाल की कटोरी की ओर देखकर विजय न जाने क्या सोच रहा था। सोचने दो क्योंकि चिन्ता ही दरिद्रों का जीवन है और आशा ही उनका प्राण।

❀ ❀ ❀

किसी तरह दिन कट रहे थे।

रात्रि का समय था। त्रिवेणी सो गई थी, लज्जा बैठी थी।

'देखता हूँ इस नौकरी का भी कोई ठिकाना नहीं है।' गम्भीर आकृति बनाते हुए विजयकृष्ण ने कहा।

'क्यों ! क्या कोई नई बात है ?' लज्जावती ने अपनी झुकी हुई आंखें ऊपर उठाकर एक बार विजय की ओर देखते हुए, पूछा।

'बड़ा साहब मुझसे अप्रसन्न रहता है। मेरे प्रति उसकी आंखें सदैव चढ़ी रहती हैं।'

'किस लिए ?'

'हो सकता है, मेरी निरीहता ही इसका कारण हो।'

लज्जा चुप थी।

'पन्द्रह रुपये मासिक पर दिन-भर परिश्रम करना पड़ता है, इतने पर भी·····'

'ओह, बड़ा भयानक समय आ गया है !' लज्जावती ने दुःख की एक लम्बी सांस खींचते हुए कहा।

'मकानवाले का दो मास का किराया बाकी है, इस बार वह नहीं मानेगा।'

'इस बार न मिलने से वह बड़ी आफत मचायेगा।' लज्जा ने भय-भीत होकर कहा।

'क्या करूँ ? जान देकर भी इस जीवन से छुटकारा होता···।'

'ऐसा सोचना व्यर्थ है। घबड़ाने से क्या लाभ ? कभी दिन फिरेंगे ही।'

'कल रविवार है, छुट्टी का दिन है,एक जगह दूकान पर चिठ्ठी-पत्री लिखने का काम है। पाँच रुपए महीना देने को कहता था। घण्टे-दो-घण्टे उसका काम करना पड़ेगा। मैं आठ मांगता था। अब सोचता हूँ, कल उससे मिलकर स्वीकार कर लूं। दफ़्तर से लौटने पर उसके यहां जाया करूँगा,' कहते हुए विजयकृष्णके हृदय में उत्साह की एक हल्की रेखा दौड़ पड़ी।

'जैसा ठीक समझो।'कहकर लज्जा विचार में पड़ गई। वह जानती थी कि विजय का स्वास्थ्य परिश्रम करने से दिन-दिन ख़राब होता जा रहा है।

मगर रोटी का प्रश्न था !

❀ ❀ ❀

दिन, सप्ताह और महीने उलझते चले गए।

विजय प्रतिदिन दफ्तर जाता। वह किसी से बहुत कम बोलता उसकी इस नीरसता पर प्रायः दफ्तर के अन्य कर्मचारी व्यंग करते।

उसका पीला चेहरा और धंसी हुई आंखें, लोगों को विनोद करने के लिए उत्साहित करती थीं। लेकिन वह चुपचाप ऐसी बातों को अनसुनी कर जाता, कभी उत्तर न देता। इस पर भी सब उससे असन्तुष्ट रहते थे।

विजय के जीवन में आज एक अनहोनी घटना हुई। वह कुछ समझ न सका! मार्ग में उसके पैर आगे न बढ़ते। उसकी आँखों के सामने चिनगारियां झलमलाने लगीं। मुझसे क्या अपराध हुआ? कई बार उसने मन ही मन में प्रश्न किए।

घर से दफ्तर जाते समय बिल्ली ने रास्ता काटा था। आगे चलकर खाली घड़ा दिखाई पड़ा था। इसीलिये तो सब अपशकुनों ने मिलकर आज उसके भाग्य का फैसला कर दिया!

साहब बड़ा अत्याचारी है। क्या गरीबों का पेट काटने के लिए ही पूंजीपतियों का आविष्कार हुआ है? नाश हो इनका…वह कौन-सा दिन होगा जब रुपयों का अस्तित्व संसार से मिट जायगा? भूखा मनुष्य दूसरे के सामने हाथ न फैला सकेगा? सोचते हुए विजय का माथा घूमने लगा। वह मार्ग में गिरते-गिरते सम्हल गया।

सहसा उसने आंखें उठाकर देखा, वह अपने घर के सामने आ गया था; बड़ी कठिनाई से वह घर में घुसा कमरे में आकर धम से बैठ गया।

लज्जावती ने घबड़ाकर पूछा—'तबियत कैसी है?'

'जो कहा था वही हुआ।'

'क्या हुआ?'

'नौकरी छूट गई। साहब ने जवाब दे दिया।' कहते-कहते उसकी आँखें छलछला गईं।

विजय की दशा पर लज्जा को रुलाई आ गई। उसकी आंखें बरस पड़ीं। उन दोनों को रोते देखकर त्रिवेणी भी सिसकने लगी।

सन्ध्या की मलिन छाया में तीनों बैठकर रोते थे। इसके बाद शान्त होकर विजय ने अपनी आंखें पोंछी, लज्जावती ने अपनी और त्रिवेणी की—

—क्योंकि संसार में एक और बड़ी शक्ति है, जो इन सब शासन करने वाली चीजों से कहीं ऊंची है जिसके भरोसे बैठा हुआ मनुष्य आँखें फाड़कर अपने भाग्य की रेखा को देखा करता है।

———

जाह्नवी

जैनेन्द्रकुमार

आज तीसरा रोज़ है।—तीसरा नहीं, चौथा रोज़ है। वह इतवार की छुट्टी का दिन था। सवेरे उठा और कमरे से बाहर की ओर झांका तो देखता हूँ, मुहल्ले के एक मकान की छत पर कांओ-कांओं करते हुए कौओं से घिरी हुई एक लड़की खड़ी है। खड़ी-खड़ी बुला रही है, "कौओ आओ, कौओ आओ।' कौए बहुत काफी आ चुके हैं; पर और भी आते जाते हैं। वे छत की मुंडेर पर बैठे अधीरता से पंख हिलाकर बेहद शोर मचा रहे हैं। फिर भी उन कौओं की संख्या से लड़की का मन जैसे भरा नहीं है। बुला रही है, 'कौओ आओ, कौओ आओ।'

देखते-देखते छत की मुंडेर कौओं से बिलकुल काली पड़ गई। उनमें से कुछ अब उड़-उड़कर लड़की की धोती से जा टकराने लगे। कौओं के खूब आ घिरने पर लड़की मानो उन आमंत्रित अतिथियों के प्रति गाने लगी—

'कागा चुन-चुन खाइयो···।'

गाने के साथ उसने अपने हाथ की रोटियों में से तोड़-तोड़कर नन्हें-नन्हें टुकड़े भी चारों ओर फेंकने शुरू किये। गाती जाती थी। 'कागा चुन-चुन खाइयो···।' वह मग्न मालूम होती थी और अनायास उसकी देह थिरक कर नाच-सी आती थी। कौए चुन-चुन खा रहे थे और वह गा रही थी—'कागा चुन-चुन खाइयो···।'

आगे वह क्या गाती है, कौओं की कांव-कांव और उनके पंखों की फड़-फड़ाहट के मारे साफ सुनाई न दिया। कौए लपक-लपककर मानो टूटने से पहले उसके हाथों से टुकड़ा छीने ले रहे थे। वे लड़की के चारों ओर ऐसे छा रहे थे मानो वे प्रेम से उसको ही खाने को उद्यत हों।

और लड़की कभी इधर कभी उधर झुक कर घूमती हुई ऐसे लीन भाव से गा रही थी कि जाने क्या मिल रहा हो।

रोटी समाप्त होने लगी। कौए भी यह समझ गए। जब अन्तिम टुकड़ा हाथ में रह गया तो वह गाती हुई उस टुकड़े को हाथ में फहराती हुई ज़ोर से दो-तीन चक्कर लगा उठी। फिर उसने वह टुकड़ा ऊपर आसमान की ओर फेंका—'कौओ खाओ,कौओ खाओ।' और बहुत से कौए एक-ही साथ उड़कर उसे लपकने झपटे। उस समय उन्हें देखती मानो आनन्द में चीखती हुई-सी आवाज़ में गा उठी—

'दो नैना मत खाइयो, मत खाइयो···।
पीउ मिलन की आस।'

रोटियाँ खत्म हो गईं। कौए उड़ चले। लड़की एक-एककर उनको उड़कर जाता हुआ देखने लगी। पल-भर में छत कोरी हो गई। अब वह आसमान के नीचे अकेली अपनी छत पर खड़ी थी। बहुत-से मकानों की बहुत-सी छतें थीं। उन पर कोई न होगा, कोई न होगा। पर लड़की दूर अपने कौओं को उड़ते जाते हुए देखती रह गई। गाना समाप्त हो गया था। धूप अभी फूटी ही थी। आसमान गहरा नीला था। लड़की के ओंठ खुले थे, दृष्टि स्थिर थी। जाने, भूली-सी वह क्या देखती रह गई थी।

थोड़ी देर बाद उसने मानो जगकर अपने आस-पास के जगत को भी देखा। इसी की राह में क्या मेरी ओर भी देखा ? देखा भी हो, पर शायद मैं उसे नहीं दीखा था। उसके देखने में सचमुच कुछ दीखता ही था, यह मैं कह नहीं सकता। पर कुछ ही पल के अनन्तर वह मानो वर्तमान के प्रति, वास्तविकता के प्रति, चेतन हो आई। तब फिर बिना देर लगाए चट-चट उतरती हुई वह नीचे अपने घर में चली गई।

मैं अपनी खिड़की में खड़ा-खड़ा चाहने लगा कि मैं भी देखूं,कौए कहां उड़ रहे हैं, और वे कितनी दूर चले गए हैं। क्या वे कहीं दीखते भी हैं ? पर मुश्किल से मुझे दो-एक ही कौए दीखे वे निरर्थक भाव से

यहां बैठे थे, या वहां उड़ रहे थे। वे मुझे मूर्ख और घिनौने मालूम हुए उनकी काली देह और काली चोंच मन को बुरी लगी। मैंने सोचा कि 'नहीं, अपनी देह मैं कौओं से नहीं चुनवाऊंगा। छिःचुन-चुनकर इन्हीं के खाने के लिए क्या मेरी देह है? मेरी देह और कौए!—छी।'

जान पड़ता है खड़े-खड़े मुझे काफ़ी समय खिड़की पर हो गया। क्योंकि इस बार देखा कि ढेर के ढेर कपड़े कंधे पर लादे वही लड़की फिर उसी छत पर आ गई है। इस बार वह गाती नहीं है, वहां पड़ी एक खाट पर उन कपड़ों को पटक देती है और फिर उन कपड़ों में से एक-एक को चुनकर, फटककर, वहीं छत पर सुखा देती है। छोटे-बड़े उन कपड़ों की गिनती काफी रही होगी। वे उठाए जाते रहे, फटके जाते, फैलाए जाते रहे; पर उनका अंत शीघ्र आता न दीखा। आख़िर सब ख़त्म हो गए तो लड़की ने सिर पर आए हुए धोती के पल्ले को पीछे किया। उसने एक अंगड़ाई ली, फिर सिर को ज़ोर से हिला कर अन-बंधे अपने बालों को छिटका लिया और धीमे-धीमे वहीं डोलकर उन बालों पर हाथ फेरने लगी। कभी-कभी बालों की लट को सामने लाकर देखती फिर उसी को लापरवाही से पीछे फेंक देती। उसके बाल गहरे काले थे और लम्बे थे। मालूम नहीं उसे अपने इस वैभव पर सुख था या दुख था। कुछ देर वह उंगलियां फेर-फेर कर अपने बालों को अलग-अलग छिटकाती रही। फिर चलते-चलते एकाएक उन सब बालों को इकट्ठा समेट कर झटपट जूड़ा-सा बांध, पल्ला सिर पर खींच, वह नीचे उतर गई।

इसके बाद मैं खिड़की पर नहीं ठहरा। घर में छोटी साली आई हुई है। इसी शहर के दूसरे भाग में रहती है और ब्याह न करके कालिज में पढ़ती है। मैंने कहा—'सुनो, यहां आओ।'

उसने हंस कर पूछा—'यहां कहाँ?'

खिड़की के पास आकर मैंने पूछा—'क्यों जी जाह्नवी का मकान जानती हो?'

'जाह्नवी ! क्यों, वह कहां है ?'

'मैं क्या जानता हूँ कहां है। पर देखो, वह घर तो उसका नहीं है ?'

उसने कहा— 'मैंने घर नहीं देखा। इधर उसने कालिज भी छोड़ दिया है।'

'चलो अच्छा है' मैंने कहा और उसे जैसे-तैसे टाला। क्योंकि वह पूछने-ताछने लगी थी कि क्या काम है, जाह्नवी को मैं क्या और कैसे और क्यों जानता हूँ ? सच यह था कि मैं रत्ती-भर इसे नहीं जानता था। एक बार अपने ही घर में इसी साली की कृपा और आग्रह पर एक निगाह एक को देखा था। बताया गया था कि वह जाह्नवी है, और मैंने अनायास स्वीकार कर लिया था कि अच्छा, वह जाह्नवी होगी। उसके बाद की सचाई यह है कि मुझे कुछ नहीं मालूम कि उस जाह्नवी का क्या बन गया और क्या नहीं बना। पर किसी सचाई को बहनोई के मुंह से सुनकर स्वीकार कर ले तो साली क्या। तिस पर सचाई ऐसी कि नीरस। पर ज्यों-त्यों मैंने उसे टाला।

बात-बात में मैंने कहना भी चाहा कि ऐसी ही तुम जाह्नवीको जानती हो, ऐसी ही तुम साथ पढ़ती थी कि जरा बात पर कह दो 'मालूम नहीं।' लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं।

इसके बाद सोमवार हो गया, मंगलवार हो गया और आज बुध भी होकर चुका जा रहा है। चौथा रोज़ है। हर रोज़ सवेरे खिड़की पर दीखता है कि कौए कांव-कांव, छीन-झपट कर रहे हैं और वह लड़की उन्हें रोटी के टुकड़ों के मिस कह रही है, 'कागा चुन-चुन खाइयो···।'

मुझको नहीं मालूम कि कौए जो कुछ उसका खाएंगे उसे कुछ भी उसका सोच है। कौओं को बुला रही है—'कौओ आओ, कौओ आओ' साग्रह कह रही है—'कौओ खाओ, कौओ खाओ।' वह खुश है कि कौए आगए हैं और वे खा रहे हैं। 'पर एक बात है कि ओ कौओ, जो तन चुन-चुन कर खा लिया जायगा उसको खा लेने में खुशी से मेरी अनुमति है। वह खा-खूकर तुम स निबटा देना। लेकिन मेरे भाई कौओ, इन·

दो नैनों को छोड़ देना। इन्हें कहीं मत खा लेना। क्या तुम नहीं जानते कि उन नैनों में एक आस बसी है जो पराए के बस है। वह नैना पीउ की बाट में हैं। ऐ कौओ, वे मेरे नहीं हैं, मेरे तन के नहीं हैं। वे पीऊ की आस को बसाए रखने के लिए हैं। सो, उन्हें छोड़ देना।'

आज सवेरे भी मैंने यह सब कुछ देखा। कौओं को रोटी खिलाकर वह उसी तरह नीचे चली गई। फिर छोटे-बड़े बहुत-से कपड़े धोकर लाई। उसी भांति उन्हें झटककर सुखा दिया। वैसे-ही बाल छितराकर थोड़ी देर डोली फिर सहसा ही उन्हें जूड़े में संभालकर नीचे भाग गई।

जाह्नवी को घर में एक बार देखा था। पत्नी ने उसे खास-तौर पर देख लेने को कहा था। और उसके चले जाने पर पूछा था—'क्यों, कैसी है ?'

मैंने कहा था--'बहुत भली मालूम होती है। सुन्दर भी है। पर क्यों?'

'अपने बिरजू के लिये कैसी रहेगी ?'

बिरजू दूर के रिश्ते में मेरा भतीजा होता है। इस साल एम० ए० में पहुँचा है।

मैंने कहा—'अरे, व्रजनंदन ! वह उसके सामने बच्चा है।'

पत्नी ने अचरज से कहा--'बच्चा है। बाईस बरस का तो हुआ।'

'बाईस छोड़ ब्यालीस का भी हो जाय। देखा नहीं कैसे ठाठ से रहता है। यह लड़की देखो, कैसी बस सफ़ेद साड़ी पहनती है; बिरजू इसके लायक कहां है। यों भी कह सकते हो कि यह विचारी लड़की बिरजू के ठाठ के लायक नहीं है।'

बात मेरी कुछ सही, कुछ व्यंग थी, पत्नी ने उसे कान पर भी न लिया। कुछ दिनों बाद मुझे मालूम हुआ कि पत्नी जी की कोशिशों से जाह्नवी के माँ-बाप से (—मां के द्वारा बाप से) काफ़ी आगे तक बढ़कर बातें कर ली गई हैं। शादी के मौके पर क्या देना होगा,क्या लेना होगा एक-एक कर सभी बातें पेशगी तय होती जा रही हैं।

इतने में सब किए-कराए पर पानी फिर गया। जब बात कुछ किनारे पर आ गई थी, तभी हुआ क्या कि हमारे ब्रजनंदन के पास एक पत्र आ पहुँचा। उस पत्र के कारण एकदम सब चौपट हो गया। इस रंग में भंग हो जाने पर हमारी पत्नी जी का मन पहले तो गिर कर चूर-चूर-सा होता जान पड़ा, पर, फिर, वह उसी पर बड़ी खुश मालूम होने लगीं।

मैं तो मानो इन मामलों में अनावश्यक प्राणी हूँ ही। कानों-कान मुझे ख़बर तक न हुई। जब हुई तो इस तरह—

पत्नी एक दिन सामने आ धमकीं। बोलीं—'यह तुमने जाह्नवी के बारे में पहले-से क्यों नहीं बतलाया ?'

मैंने कहा-'जाह्नवी के बारे में मैंने पहले-से क्या नहीं बतलाया भाई ?'

'यही की वह ऐसी है ?'

मैंने पूछा—'ऐसी कैसी ?'

उन्होंने कहा—'अब बनो मत। जैसे तुम्हें कुछ नहीं मालूम।'

मैंने कहा-'अरे, यह तो कोई हाईकोर्ट का जज भी नहीं कह सकता कि मुझे कुछ भी नहीं मालूम। लेकिन, आख़िर जाह्नवी के बारे में मुझे क्या-क्या मालूम है, यह तो मालूम हो।'

श्रीमतीजी ने अकृत्रिम आश्चर्य से कहा-'बिरजू के पास खत आया है, सो तुमने कुछ नहीं सुना ? आजकल की लड़कियाँ,—बस कुछ न पूछो। यह तो चलो भला हुआ कि मामला खुल गया। नहीं तो—'

क्या मामला, कहां, कैसे खुला और भीतर से क्या कुछ रहस्य बाहर हो पड़ा सो सब बिना जाने मैं क्या निवेदित करता ? मैंने कहा —'कुछ बात साफ़ भी कहो।'

उन्होंने कहा—'वह लड़की आशनाई में फंसी थी।—पढ़ी-लिखीं सब एक जात की होती हैं।'

मैंने कहा—'सब की जात-बिरादरी एक हो जाय तो बखेड़ा टले। लेकिन असल बात तो भी बताओ।'

'असल बात जाननी है तो जाकर पूछो उसकी महतारी से। भली समधिन बनने चली थी! वह तो मुझे पहले ही से दाल में काला मालूम होता था। पर देखो न, कैसी सीधी भोली बातें करती थी। वह तो, देर क्या थी, सब हो ही चुका था। बस लगन-महूर्त की बात थी। राम-राम, भीतर पेट में कैसी कालिख रक्खे है, मुझे पता न था। चलो, आख़िर परमात्मा ने इज़्ज़त बचा ली। वह लड़की घर में आ जाती तो मेरा मुंह अब दिखाने लायक न रहता?'

मेरी पत्नी का मुख क्यों किस भांति दिखाने लायक न रहता, उसमें क्या विकृति आ रहती, सो उनकी बातों से समझ में न आया। उनकी बातों में रस कई भांति का मिला, तथ्य न मिला। कुछ देर के बाद उन बातों से मैंने तथ्य पाने का यत्न ही छोड़ दिया और चुप-चाप पाप पुण्य धर्म-अधर्म का विवेचन सुनता रहा। पता लगाने पर मालूम हुआ कि व्रजनंदन के पास खुद यानी जाह्नवी का पत्र आया था। उस पत्र को देख कर मेरे मन में कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो?—मुझे यह अपना सौभाग्य मालूम नहीं हुआ कि जाह्नवी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्र की बात कई बार मन में उठी और घुमड़ती रह गई है। ऐसे समय चित्त का समाधान उड़ गया है और मैं शून्य भाव से, हमें जो शून्य चारों ओर से ढके हुए है उसकी ओर, देखता रह गया हूँ।

पत्र बड़ा नहीं था। सीधे-सादे ढंग से उसमें यह लिखा था कि आप जब विवाह के लिए यहां पहुँचेंगे तो मुझे प्रस्तुत भी पायेंगे। लेकिन मेरे चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं है और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता मुझमें नहीं है। एक अनुगता आपको विवाह द्वारा मिल जायगी। लेकिन विवाह द्वारा सेविका नहीं मिलनी चाहिए—धर्मपत्नी मिलनी चाहिए।--वह जीवन-संगिनी भी हो। वह मैं हूँ या हो सकती हूँ, इसमें मुझे बहुत संदेह है। फिर भी अगर आप चाहें, आपके माता-पिता चाहें, तो प्रस्तुत मैं अवश्य हूँ। विवाह में आप मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को दे दूंगी और आपके चरणों की धूलि माथे से

लगाऊँगी। आपकी कृपा मानूंगी। कृतज्ञ होऊंगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी मांग उठा लेंगे, मुझे छोड़ देंगे, तो भी मैं कृतज्ञ होऊंगी। निर्णय आपके हाथ है। जो चाहें, करें।

मुझे ब्रजनंदन पर आश्चर्य आकर भी आश्चर्य नहीं होता। उसने दृढ़ता के साथ कह दिया कि मैं यह शादी नहीं करूँगा। लेकिन उसने मुझ से अकेले में यह भी कहा कि चाचा जी, मैं और विवाह करूंगा ही नहीं, करूंगा तो उसी से करूंगा। उस पत्र को वह अपने से अलहिदा नहीं करता है। और मैं देखता हूं कि उस ब्रजनंदन का ठाट-बाट आप ही कम होता जा रहा है। सादा रहने लगा है अपने प्रति सगर्व बिलकुल भी नहीं दीखता है। पहले विजेता बनना चाहता था, अब विनयावनत दीखता है और आवश्यक से अधिक बात नहीं करता। एक बार प्रदर्शिनी में मिल गया। मैं देखकर हैरत में रह गया। ब्रजनंदन एकाएक पहिचाना भी न जाता था। मैंने कहा—'ब्रजनंदन कहो क्या हाल है ?'

उसने प्रणाम करके कहा—'अच्छा है।'

वह मेरे घर पर भी आया।

पत्नी ने उसे बहुत प्रेम किया और बहुत-बहुत बधाइयां दीं कि ऐसी लड़की से शादी होने से चलो भगवान् ने समय पर रक्षा कर दी। जाह्नवी नाम की लड़की की एक-एक छिपी बात बिरजू की चाची को मालूम हो गई है। वह बातो—ओः! कुछ न पूछो, बिरजू भैया! मुंह से भगवान् किसी की बुराई न करावे। लेकिन,—

फिर कहा—'भाई, अब बहू के बिना काम कब तक हम चलावें, तू ही बता। क्यों रे, अपनी चाची को बुढ़ापे में भी तू आराम नहीं देगा ? सुनता है कि नहीं !'

ब्रजनंदन चुपचाप सुनता रहा।

पत्नी ने कहा—'और यह तुझे हो क्या गया है ? अपने चाचा की बात तुझे भी लग गई है क्या ! न ढंग के कपड़े न रीत की बातें। उन्हें तो अच्छे कपड़े-लत्ते सोभते नहीं हैं। तू क्यों ऐसा रहने लगा है रे ?

व्रजनंदन ने कहा—कुछ नहीं, चाची। और कपड़े घर रक्खे हैं।

अकेले पाकर मैंने भी उससे कहा--'व्रजनंदन बात तो सही है। अब शादी करके काम में लगना चाहिये और घर बसाना चाहिए। है कि नहीं ?

व्रजनंदन ने मुझे देखते हुए बड़े-बूढ़े की तरह कहा—अभी तो बहुत उमर पड़ी है, चाचाजी।

मैंने इस बात को ज्यादा नहीं बढ़ाया।

अब खिड़की के पास इतवार को, सोमवार को, मंगलवार को और आज बुधवार को भी सवेरे-ही-सवेरे छत पर नित रोटी के मिस कौओं को पुकार-पुकार कर बुलाने-खिलाने वाली यह जो लड़की देख रहा हूँ सो क्या जाह्नवी है ? जाह्नवी को मैंने एक-ही बार देखा है, इसलिए, मन को कुछ निश्चय नहीं होता है। क़द भी इतना ही था; लावण्य शायद उस जाह्नवी में अधिक था। पर यह वह नहीं है--जाह्नवी नहीं है, ऐसा दिलासा मैं मन को तनिक भी नहीं दे पाता हूँ। सवेरे-ही-सवेरे इतने कौए बुला लेती है कि खुद दीखती ही नहीं, काले-काले वे-ही-वे दीखते हैं। और वे भी उसके चारों ओर ऐसी छीन-झपट-सी करते हुए उड़ते रहते हैं मानों बड़े स्वाद से, बड़े प्रेम से, चोंथ-चोंथ कर उसे खाने के लिए आपस में बदाबदी मचा रहे हैं। पर उनसे घिरी वह कहती है, "आओ, कौओ, आओ।" जब वे आ जाते हैं तो गाती है—

"कागा चुन-चुन खाइयो......!"

और जब जाने कहां-कहां के कौए इकट्ठे के इकट्ठे कांऊँ-कांऊँ करते हुए चुन-चुनकर खाने लगते हैं और फिर भी खाऊं-खाऊँ करके उससे भी ज्यादा मांगने लगते हैं; तब वह चीख मचा कर चिल्लाती है—कि ओ रे कागा, नहीं, ये—

"दो नैना मत खाइयो! मत खाइयो—
पीउ मिलन की आस।"

कोटर और कुटीर

सियारामशरण गुप्त

कोटर

दोपहरी का समय था। सूर्य अग्नि-शलाकाओं से पृथ्वी का शरीर दग्ध कर रहा था। वृक्षों के पत्ते निस्पन्द थे। मानो किसी भयंकर काण्ड की आशंका से साँस-सी साधे खड़े थे। इसी समय अपने छोटे-से कोटर के भीतर बैठे हुए चातक पुत्र ने कहा—'पिता'

बाहर की सहज स्निग्ध वनस्थली के वर्तमान रूखेपन की तरह ही वह स्वर कुछ नीरस था। चातक ने अपनी चोंच कुमार की पीठ पर फेरते हुए प्यार से कहा—'क्या है बेटा'

'है और क्या? प्यास के मारे चोंच तक प्राण आ गये हैं।'

'बेटा, अधीर न हो। समय सदा एक-सा नहीं रहता।'

'तो यही तो मैं भी कहता हूँ—समय सदा एक-सा नहीं रहता। पुरानी बातें पुराने समय के लिए थीं। आप अब भी उन्हें इस तरह छाती से चिपकाए हुए हैं, जिस तरह बानरी मरे बच्चे को चिपकाये रहती है। घनश्याम की बाट जोहते रहिए। अब मुझसे यह नहीं सध सकता।'

'घनश्याम के सिवा हम और किसी का जल ग्रहण नहीं करते। यही हमारे कुल का व्रत है। इस व्रत के कारण अपने गोत्र में न तो किसी की मृत्यु हुई और न कोई दूसरा अनर्थ।'

'आप कहते हैं,—कोई अनर्थ नहीं हुआ, मैं कहता हूँ, प्यास की इस यन्त्रणा से बढ़ कर और अनर्थ क्या होगा। जहां से भी होगा मैं जल ग्रहण करूंगा ही।'

चातक सिहर कर पंख फड़फड़ाने लगा। मानो उसने उन अश्राव्य वचनों और कानों के बीच में कोलाहल की परिखा-सी खड़ी कर देनी

चाही ! थोड़ी देर तक चुप रहकर वह बोला—बेटा, धैर्य रख । अपने इस व्रत के कारण ही पानी बरसता है और धरती-माता की गोद हरी-भरी होती है । यह व्रत इस तरह नष्ट कर देने की वस्तु नहीं ।'

लाडले लड़के ने कहा—'व्रत पालन करते हुए इतने दिन तो हो गये, पानी का कहीं चिह्न तक नहीं है ! गरमी ऐसी पड़ रही है कि धरती के नदी-नाले सब सूख गये । फिर सूर्य के और निकट रहने वाले आकाश के मेघों में पानी टिक ही कैसे सकता है ?'

'बेटा, पृथ्वी का यह निर्जल उपवास है । इसी पुण्य से उसे जीवन-दान मिलेगा । भोजन का पूरा स्वाद और पूरी तृप्ति पाने के लिए थोड़ी-सी क्षुधा सहन करना अनिवार्य ही नहीं आवश्यक भी है ।'

'पिता जी, मैं थोड़ी-सी क्षुधा से नहीं डरता । परन्तु एक भी नहीं चाहता कि क्षुधा-ही-क्षुधा सहन करता रहूँ । मैं ऐसा व्रत व्यर्थ समझता हूं कि देवताओं का अभिशाप लेकर भी मैं इसे तोड़ूंगा । घनश्याम को भी तो सोचना चाहिये था कि उनके बिना किसी के प्राण निकल रहे हैं । आदमी ने मेघों पर अविश्वास करके कृषि की रक्षा के लिए नहर, तालाब और कुओं का बन्दोबस्त कर लिया है । कृषि ने आपकी तरह सिर नहीं हिलाया कि मैं तो घनश्याम के सिवा और किसी का जल नहीं छुऊंगी । हमीं क्यों इस तरह कष्ट सहें । आप चाहे मुझे रक्खें या छोड़ें, मैं यह झंझट न मानूंगा ।'

चातक ने देखा—मामला बेढब हुआ चाहता है । यह इस तरह न मानेगा । कहा—'यह बताओ, तुम जल कहां से ग्रहण करोगे ?'

चातक-पुत्र चुप । उसने अभी तक इस बात पर विचार ही नहीं किया था ! वह सोचता था, जिस प्रकार लाखों जीव-जन्तु जल पीते हैं, उसी प्रकार मैं भी पीऊंगा । परन्तु वह प्रकार कैसा है, यह उसकी समझ में न आया था ।

लड़के को चुप देखकर पिता ने समझा—कमज़ोरी यहीं है । वह जानता था कि कमज़ोरी पर ऊपर से ही आक्रमण करना विजय की

पहली सीढ़ी है। बोला—'चुप कैसे रह गये? बताओ, तुम जल कहां से ग्रहण करोगे?'

हिचकिचाकर,—अपनी बात स्वयं ही खण्ड-खण्ड करते हुए,—लड़के ने कहा—'जहां से और दूसरे ग्रहण करते हैं, वहीं से मैं भी करूंगा।'

पिता ने कहा—'पड़ौस में वह पोखरी है। अनेक पशु-पक्षी और आदमी भी वहां जल पीते हैं। तुम वहां जल पी सकोगे? बोलो है हिम्मत?'

चातक-पुत्र को उस पोखरी के स्मरण से ही फुरहरी आ गई। अह, उसमें कितनी गन्दगी है! पत्ते, सूखी डंठलें आदि गिर-गिर कर उसमें सड़ती रहती हैं। कीड़े कुलबुलाते हुए उसमें साफ़ दिखाई दे सकते हैं। लोग उसमें कपड़े निखारने आते हैं, या गंदे करने, कई बार सोचने पर भी वह समझ न सका था। एक बार एक आदमी को अंजुली से पानी पीते देख उसने पिता से कहा था—देखो पिता जी, ये कैसे घृणित जीव हैं। अवश्य ही उसने अपने व्रत का जिक्र उस समय नहीं किया था, परन्तु उसके मन में उसी का गर्व छलक उठा था। अब इस समय वह पिता से कैसे कहे कि मैं उस पोखरी का पानी पिऊंगा?

चातक बोला—'बेटा, अभी तुम नासमझ हो। चाहे जहां से पानी ग्रहण करना इस समय तुम आसान समझ रहे हो। परन्तु जब इसके लिए बाहर निकलोगे तब तुम्हें मालूम पड़ेगा। हमारी प्यास के साथ करोड़ों की प्यास है और तृप्ति के साथ करोड़ों की तृप्ति। तुमसे अकेले तृप्त होते कैसे बनेगा?'

चातक-पुत्र इस समय अपने हठ को पुष्ट करने वाली कोई युक्ति सोच रहा था। पिता की बात बिना सुने वह बोल उठा—'मैं गंगा-जल ग्रहण करूंगा।

चातक ने कहा—'गंगा जी तो यहां से पांच दिन की उड़ान पर है। तू नहीं मानता तो जा। परन्तु यदि तूने और कहीं एक बूंद भी ली, तो हमें मुंह न दिखाना।'

चातक-पुत्र प्रणाम करके फर्र-से उड़ गया।

२

कुटीर

बुद्धन का कच्चा खपरैल का घर था। छोटी-छोटी दो कोठियां, फिर उन्हीं के अनुरूप आंगन और उसके आगे पौर। पुराना छप्पर नीचे झुक कर घर के भीतर आश्रय लेने की बात सोच रहा था। जीर्ण-शीर्ण दीवारें रोशनदान न होने की साध दरारों के 'दत्तक' से पूरी किया चाहती थीं!

उस घर में और कुछ हो या न हो, आंगन के बीच, चातक-पुत्र के विश्राम करने योग्य नीम का एक वृक्ष था। तीसरी उड़ान की थकान मिटाने के लिये वह उसी पर उतरा।

नीम की स्निग्धता तथा सघनता ने चातकपुत्र को अपने निजी सहकार की याद दिला दी। विश्राम पाकर भी उसके जी में एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न हो गई। पकी निबौरी की तरह उस वेदना में भी कुछ माधुर्य था!

नीचे वृक्ष की छाया में बुद्धन लेटा हुआ था। अवस्था उसकी पचास के ऊपर थी। फिर भी अभी कुछ दिन पहले तक, उसके पैरों में जीवन-यात्रा की इतनी ही मंजिल तय करने योग्य शक्ति और मालूम होती थी। एक दिन एकाएक पक्षाघात ने उसे अचल कर दिया। जीवन और मृत्यु ने आपस में सुलह करके मानो आधे-आधे शरीर का बटवारा कर लिया! स्त्री पहले ही गत हो चुकी थी। घर में १५-१६ वर्ष का एक-मात्र पुत्र, गोकुल ही अवशिष्ट था। उसी के सहारे उसके दिन पूरे हो रहे थे।

गोकुल एक जगह काम पर जाता था। काम करके प्रति दिन संध्या समय तक लौट आता था। आज अभी तक नहीं आया था, इसलिए बुद्धन उसके लिये छटपटा रहा था। ऊपर आकाश में तारे छिटक आये थे। इधर-उधर चारों ओर सन्नाटा था और घर में अकेला बुद्धन। यद्यपि

उसमें खाट के नीचे तक उतरने की शक्ति नहीं थी, तो भी उसका मन न जाने कहां-कहां चौकड़ी भर रहा था। गोकुल सवेरे थोड़े-से चने खा कर काम पर गया था। बुद्धन के लिये भी थोड़े-से चने और पीने का पानी यथा-स्थान रख गया था। आज खानेके लिये घरमें और कुछ था ही नहीं। कह गया था, शाम को मज़दूरी के पैसोंका आटा लाकर रोटी बनाउंगा, परन्तु आज वह अभी तक नहीं आया था। अनेक आशंकाओं से बुद्धन का मन चंचल हो उठा। जो समय आनंद की स्निग्ध-शीतल-छाया में शीत-काल के दिन की तरह, मालूम भी नहीं होने पाता और निकल जाता है, वही दुःख का दाहक ज्वाला में निदाघ के दीर्घ दिनों की भांति अकाट्य हो उठता है। रात बहुत नहीं बीती थी, परन्तु बुद्धन को मालूम हो रहा था कि बरसों का समय हो गया। बार-बार अपने कान खड़े करके रात के उस सन्नाटे में वह गोकुल के पद-शब्द सुनने का प्रयत्न कर रहा था।

बड़ी देर बाद उसकी प्रतीक्षा सफल हुई। किवाड़ खुलने की आवाज़ सुन कर वह चौंका। वास्तव में यह गोकुल ही था। उसने कहा--कौन, गोकुल !—बेटा, आज बड़ी देर लगाई।

गोकुल धीरे से पिता की खाट के पास आ कर रोने लगा।

बुद्धन ने घबरा कर पूछा—क्या हुआ, बेटा ! क्या हुआ ?

'आज मज़दूरी नहीं मिली। अब कैसे चलेगा ?'

'ऐं मज़दूरी नहीं मिली ! फिर इतनी देर क्यों हुई ?'

प्रकृतिस्थ हो कर गोकुल ने उसे अपना हाल सुनाया।

❀ ❀ ❀

सवेरे घर से निकलते ही गोकुल को सामने खाली घड़ा मिला। देख कर उसके पैर ढीले पड़ गये। सोचा—आज भगवान् ही मालिक है। काम पर पहुँचकर उसने देखा--इँजनीयर साहब काम देखने आये थे। जान पड़ता है, काम देखने की जगह वे ओवरसीयर साहब को ही देख गये थे। अन्यायका यह बोझा उन्होंने दिनभर-मज़दूरों पर अच्छी तरह उतारा। शाम को मज़दूरी देनेके समय भी साफ इंकार कर दिया—आज

दाम नहीं दिये जायंगे। उस अदालत के फैसले की तरह, जिसकी कहीं अपील नहीं हो सकती, ओवरसीयर साहब का हुक्म मानकर मज़दूर अपने-अपने घर लौट गये।

गोकुल लौटा चला आ रहा था कि एक जगह उसे रास्ते में कुछ पड़ा दिखाई दिया। पास पहुंचने पर मालूम हुआ, रुपये-पैसे रखने का बटुआ है। उठाकर देखा तो काफी वज़नदार था। वह सोच में पड़ गया—इसे खोल कर देखना चाहिए या नहीं। न देखने का निश्चय ही उसे दृढ़ करना पड़ा। कौतूहल-निवृत्ति करने के लिए उसने उसे टटोला। टटोलने पर मालूम हुआ—रुपये हैं और बहुत कम भी नहीं। थोड़ी देर तक वह वहीं खड़ा-खड़ा सोचता रहा—इसका क्या करूँ? उसके पिता ने उसे अब तक जो कुछ सिखाया था, उसने उसे इस बात के सोचने का अवसर ही नहीं दिया कि बटुआ अपने पास रख ले। वह यही सोच रहा था कि वह बटुआ किसका है? जब उसे मालूम होगा कि उसका बटुआ खो गया है तब उसकी क्या दशा होगी? रुपये पैसे का क्या मूल्य है, यह बात कुछ दिनों में ही अच्छी तरह जान गया था। उस व्यक्ति की उस समय की दशा का विचार करके वह इस प्रकार सिहर उठा मानो उसी का बटुआ खो गया हो।

उसे ध्यान आया कि कुछ दूर उसने एक गाड़ी जाती हुई देखी थी। उस पर कान में मोती-पिरोई सोने की बाली पहने हुए एक महते बैठे थे। सम्भव है यह बटुआ उन्हीं का हो। और किसी के पास इतने रुपये होना आसान भी नहीं है। यहाँ कुँए पर गाड़ी रोक कर उन्होंने पानी पिया होगा और आग जलाकर तमाखू भरी होगी। एक जगह आग जलाई जाने के चिह्न मौजूद थे। उसने इस बात का विचार ही नहीं किया कि गाड़ी तक जाने में कितना समय लगेगा और वह दौड़ पड़ा।

लगभग आधे घण्टे के परिश्रम से वह उस गाड़ी के पास पहुँच गया। गोकुल ने हांफते-हांफते पूछा—महते, तुम्हारा कुछ खो तो नहीं गया?

महते ने चौंककर गाड़ी में इधर-उधर देखा। साथ ही जेब पर हाथ रक्खा तो पाषाण की तरह निस्पन्द हो गए। गोकुल से महते की वह अवस्था देखी न गई। वह बटुआ दिखाकर उसने झट से प्रश्न कर दिया—यह तुम्हारा है?

एक क्षण में ही जीवन और मृत्यु का द्वन्द्व-सा हो गया। मानो बिजली के खटके से प्रकाश बुझा कर घर फिर से उद्दीप्त कर दिया गया हो! महते ने कहा—भगवान् तुझे सुखी रखें भैया! इसे कहां पाया?

'रास्ते में पड़ा था। इसमें कितने रुपये हैं?'

महते ने हिसाब लगा कर बताया—बयालीस रुपये, एक अठन्नी, एक घिसी हुई बेकाम दुअन्नी, दस या बारह आने पैसे, एक चांदी का छल्ला—

गोकुल ने बटुआ खोल कर रुपये गिने। सब ठीक निकले। बटुआ हाथ में लेकर महते की आंखों में आंसू भर आए। बोले—इतनी बड़ी रकम पाकर भी जिसे उसका लोभ न हो, भैया, मैंने ऐसा आदमी आज तक नहीं देखा। यदि किसी और को यह बटुआ मिलता तो मेरा मरण हो जाता। मेरा रोम-रोम असीस रहा है, भगवान् तुम्हें सदा सुखी रक्खें। यह कह कर महते ने बटुए से निकालकर गोकुल को दो रुपये देने चाहे। उसने सिर हिला कर कहा—मेरे बप्पा ने किसी से भीख लेने के लिये मुझे मना कर दिया है। मुफ्त के ये रुपये मैं न लूंगा।

महते के सजल नेत्र विस्मय से खुले ही रह गये। गोकुल थोड़ी ही देर में उस अन्धकार में उनकी आंखों से ओझल हो गया।

❀ ❀ ❀

सब वृत्तान्त सुनाकर गोकुल अपराधी की भांति खड़ा होकर बोला—बप्पा, आज खाने के लिए कुछ नहीं है। महते से कुछ उधार मांग लाता तो सब ठीक हो जाता। मेरी समझ में यह बात उस समय आई ही नहीं।

बुद्धन की आंखों से झर-झर आंसू झरने लगे। गोकुल को अपनी दोनों भुजाओं में भर कर उसने छाती से लगा लिया। आनन्दातिरेक ने उसका कण्ठावरोध कर दिया। उसे मालूम हुआ कि उसके क्षुधित और निर्जीव शरीर में प्राणों का संचार हो गया है। उसे जिस तृप्ति का अनुभव होने लगा वह दो एक दिन की तो बात ही क्या जीवन-भर की क्षुधा शान्त कर सकती है। धन सम्पत्ति, मान और बड़ाई सब उसे तुच्छ-से प्रतीत होने लगे। मानो एकाएक उसके सब दु:ख-रोग दूर हो गये हैं। अब वह बिना किसी चिन्ता के मृत्यु का आलिङ्गन इसी क्षण कर सकता है।

बड़ी देर में अपने को संभाल कर बुद्धन बोला—अच्छा ही किया बेटा, जो तू महते से रुपये उधार नहीं लाया। वह उधार मांगना भी एक तरह का मांगना ही होता। भगवान् ने तुझे ऐसी बुद्धि दी है, मैं तो यही देखकर निहाल हो गया। दो एक दिन की भूख हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। जिस तरह चातक अपने प्राण देकर भी मेघ के सिवा किसी दूसरे का जल लेने का व्रत नहीं तोड़ता, उसी तरह तू भी ईमानदारी की टेक न छोड़ना! मुझे मालूम हो गया यह तू मुझ से भी अच्छी तरह जानता है। फिर भी कहता हूँ-सदा ऐसी ही मति रखना, चाहे जितनी बड़ी विपत्ति पड़े, अपनी नियत न डुलाना।

❀ ❀ ❀

ऊपर चातक-पुत्र सुन रहा था। उसकी आंखों से भी झर-झर आंसू झरने लगे। बड़ी कठिनता से वह रात बिता सका। पौ फटते ही बड़े सवेरे वह फिर उड़ा। परन्तु आज वह विपरीत दिशा को चला, उसी दिशा को जिधर से वह आया था। उसकी उड़ान पहले से तेज़ हो गई थी। फिर भी अपने कोटर तक पहुँचने में उसे चार दिन की जगह सात दिन लग गये। दूसरे दिन से ही मेघों ने उठकर ऐसी झड़ी लगा दी कि बीच-बीच में कई जगह रुक कर ही वह वहां तक पहुँच सका।

शरणागत

वृन्दावनलाल वर्म्मा

१

रज्जब कसाई अपना रोज़गार करके ललितपुर लौट रहा था। साथ में स्त्री थी, और गाँठ में दो सौ-तीन सौ की बड़ी रक़म। मार्ग बीहड़ था, और सुनसान। ललितपुर काफ़ी दूर था, बसेरा कहीं न कहीं लेना ही था; इसलिये उसने मड़पुरा-नामक गांव में ठहर जाने का निश्चय किया। उसकी पत्नी को बुख़ार हो आया था, रक़म पास में थी, और बैलगाड़ी किराए पर करने में ख़र्च ज्यादा पड़ता, इसलिये रज्जब ने उस रात आराम कर लेना ही ठीक समझा।

परन्तु ठहरता कहां? जात छिपाने से काम नहीं चल सकता था। उसकी पत्नी नाक और कानों में चांदी की बालियां डाले थी, और पैजामा पहने थी। इसके सिवा गाँव के बहुत-से लोग उसको पहचानते भी थे। वह उस गांव के बहुत-से कर्मण्य और अकर्मण्य ढोर ख़रीद कर ले जा चुका था।

अपने व्यवहारियों से उसने रात-भर के बसेरे के लायक स्थान की याचना की। किसी ने भी मंजूर न किया। उन लोगों ने अपने ढोर रज्जब को अलग-अलग और लुके-छिपे बेचे थे। ठहरने में तुरन्त ही तरह-तरह की खबरें फैलतीं, इसलिये सबों ने इन्कार कर दिया।

गांव में एक ग़रीब ठाकुर रहता था। थोड़ी-सी ज़मीन थी, जिसको किसान जोते हुए थे। जिसका हल-बैल कुछ भी न था। लेकिन अपने किसानों से दो-तीन साल का पेशगी लगान वसूल कर लेने में ठाकुर को किसी विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ता था। छोटा-सा मकान था, परन्तु उसको गाँव वाले गढ़ी के आदर व्यंजक शब्द से पुकारा करते थे, और ठाकुर को डर के मारे 'राजा' शब्द से सम्बोधन करते थे।

शामत का मारा रज्जब इसी ठाकुर के दरवाजे पर अपनी ज्वर-ग्रस्त पत्नी को लेकर पहुँचा।

ठाकुर पौर में बैठा हुक्का पी रहा था। रज्जब ने बाहर से ही सलाम करके कहा—'दाऊजू, एक बिनती है।'

ठाकुर ने बिना एक रत्ती-भर इधर-उधर हिले-डुले पूछा—'क्या?'

रज्जब बोला—'मैं दूर से आ रहा हूँ। बहुत थका हुआ हूँ। मेरी औरत को ज़ोर से बुख़ार आ गया है। जाड़े में बाहर रहने से न जाने इसकी क्या हालत हो जायगी, इसलिये रात-भर के लिये कहीं दो हाथ जगह दे दी जाय।'

'कौन लोग हो?' ठाकुर ने प्रश्न किया।

'हूँ तो कसाई।' रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर की बड़ी-बड़ी आंखों में कठोरता छा गई। बोला—'जानता है यह किसका घर है? यहां तक आने की हिम्मत कैसे की तूने?'

रज्जब ने आशा-भरे स्वर में कहा—'यह राजा का घर है, इसीलिये शरण में आया हुआ हूँ।'

तुरन्त ठाकुर की आँखों की कठोरता ग़ायब हो गई। ज़रा नरम स्वर में बोला—'किसी ने तुम को बसेरा नहीं दिया?'

'नहीं महाराज,' रज्जब ने उत्तर दिया—'बहुत कोशिश की, परन्तु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।' और वह दरवाजे के बाहर ही, एक कोने से चिपट कर, बैठ गया। पीछे उसकी पत्नी कराहती, काँपती हुई गठरी-सी बन कर सिमट गई!

ठाकुर ने कहा—'तुम अपनी चिलम लिये हो?'

'हां, सरकार!' रज्जब ने उत्तर दिया।

ठाकुर बोला—'तब भीतर आ जाओ, और तमाखू अपनी चिलम से पी लो। अपनी औरत को भीतर कर लो। हमारी पौर के एक कोने में पड़े रहना।'

जब वे दोनों भीतर आ गए तो ठाकुर ने पूछा—'तुम कब यहाँ से उठ कर चले जाओगे ?' जवाब मिला—'अन्धेरे में ही महाराज ! खाने के लिए रोटियां बांधे हूँ, इसलिए पकाने की जरूरत न पड़ेगी ।'

'तुम्हारा नाम ?'

'रज्जब ।'

२

थोड़ी देर बाद ठाकुर ने रज्जब से पूछा—'कहां से आ रहे हो ?' रज्जब ने स्थान का नाम बतलाया।

'वहाँ किस लिए गए थे ?'

'अपने रोजगार के लिये ।'

'काम तो तुम्हारा बहुत बुरा है ।'

'क्या करूं, पेट के लिये करना ही पड़ता है। परमात्मा ने जिसके लिये जो रोज़गार नियत किया है, वही उसको करना पड़ता है ।'

'क्या नफ़ा हुआ ?' प्रश्न करने में ठाकुर को ज़रा संकोच हुआ, और प्रश्न का उत्तर देने में रज्जब को उससे बढ़कर।

रज्जब ने जवाब दिया—'महाराज, पेट के लायक कुछ मिल गया है। यों ही ।' ठाकुर ने इस पर कोई ज़िद नहीं की।

रज्जब एक क्षण बाद बोला—'बड़े भोर उठ कर चला जाऊंगा। तब तक घर के लोगों की तबियत भी अच्छी हो जायगी ।'

इसके बाद दिन-भर के थके हुए पति-पत्नी सो गये। काफी रात गए कुछ लोगों ने एक बंधे इशारे से ठाकुर को बाहर बुलाया। एक फटी-सी रजाई ओढ़े ठाकुर बाहर निकल आया।

आगन्तुकों में से एक ने धीरे से कहा—'दाऊजू, आज तो खाली हाथ लौटे हैं। कल सन्ध्या का सगुन बैठा है ।'

ठाकुर ने कहा—'आज ज़रूरत थी। खैर, कल देखा जायगा। क्या कोई उपाय किया था ?'

'हां' आगन्तुक बोला—'एक कसाई रुपये की मोट बाँधे इसी

ओर आया है। परन्तु हम लोग ज़रा देर में पहुँचे। वह खिसक गया। कल देखेंगे। ज़रा जल्दी।'

ठाकुर ने घृणा-सूचक स्वर में कहा—कसाई का पैसा न छुएँगे।

'क्यों ?'

'बुरी कमाई है।'

'उसके रुपयों पर कसाई थोड़े ही लिखा है।'

'परन्तु उसके व्यवसाय से वह रुपया दूषित हो गया है।'

'रुपया तो दूसरों का ही है। कसाई के हाथ आने से रुपया कसाई नहीं हुआ।'

'मेरा मन नहीं मानता, वह अशुद्ध है।'

'हम अपनी तलवार से उसको शुद्ध कर लेंगे।'

ज़्यादा बहस नहीं हुई। ठाकुर ने सोचकर अपने साथियों को बाहर का बाहर ही टाल दिया।

भीतर देखा, कसाई सो रहा था, और उसकी पत्नी भी।

ठाकुर भी सो गया।

३

सवेरा हो गया, परन्तु रज्जब न जा सका। उसकी पत्नी का बुखार तो हलका हो गया था, परन्तु शरीर-भर में पीड़ा थी, और वह एक कदम भी नहीं चल सकती थी।

ठाकुर उसे वहीं ठहरा हुआ देखकर कुपित हो गया। रज्जब से बोला—'मैंने खूब मेहमान इकट्ठे किए हैं। गाँव-भर थोड़ी देर में तुम लोगों को मेरी पौर में टिका हुआ देखकर तरह-तरह की बकवास करेगा। तुम बाहर जाओ। इसी समय।'

रज्जब ने बहुत विनती की, परन्तु ठाकुर न माना। यद्यपि गांव-भर उसके दबदबे को मानता था, परन्तु अव्यक्त लोकमत का दबदबा उसके भी मन पर था। इसलिए रज्जब गाँव के बाहर सपत्नीक एक पेड़ के नीचे जा बैठा, और हिन्दू-मात्र को मन-ही-मन कोसने लगा।

उसे आशा थी कि पहर आध-पहर में उसकी पत्नी की तबियत इतनी स्वस्थ हो जायगी कि वह पैदल यात्रा कर सकेगी। परन्तु ऐसा न हुआ, तब उसने एक गाड़ी किराये पर कर लेने का निर्णय किया।

मुश्किल से एक चमार काफ़ी किराया लेकर ललितपुर गाड़ी ले जाने के लिए राज़ी हुआ। इतने में दोपहर हो गई! उसकी पत्नी को ज़ोर का बुखार हो आया। वह जाड़े के मारे थर-थर कांप रही थी, इतनी कि रज्जब की हिम्मत उसी समय ले जाने की न पड़ी। गाड़ी में अधिक हवा लगने के भय से रज्जब ने उस समय तक के लिए यात्रा को स्थगित कर दिया, जब तक कि उस बेचारी की कम-से-कम कंपकंपी बन्द न हो जाय।

घण्टे-डेढ़-घण्टे बाद उसकी कंपकंपी तो बन्द हो गई, परन्तु ज्वर बहुत तेज़ हो गया। रज्जब ने अपनी पत्नी को गाड़ी में डाल दिया और गाड़ीवान से जल्दी चलने को कहा।

गाड़ीवान बोला—'दिन-भर तो यहीं लगा दिया। अब जल्दी चलने को कहते हो!'

रज्जब ने मिठास के स्वर में उससे फिर जल्दी करने के लिए कहा। वह बोला—'इतने किराये में काम नहीं चल सकेगा। अपना रुपया वापस लो। मैं तो घर जाता हूँ।'

रज्जब ने दांत पीसे। कुछ क्षण चुप रहा। सचेत होकर कहने लगा—'भाई, आफ़त सब के ऊपर आती है। मनुष्य मनुष्य को सहारा देता है, जानवर तो देते नहीं। तुम्हारे भी बाल-बच्चे हैं। कुछ दया के साथ काम लो।'

कसाई को दया पर व्याख्यान देते सुनकर गाड़ीवान को हंसी आ गई।

उसको टस से मस न होता देखकर रज्जब ने और पैसे दिए। तब उसने गाड़ी हांकी।

४

पांच-छः मील चलने के बाद संध्या हो गई। गांव कोई पास में न था। रज्जब की गाड़ी धीरे-धीरे चली जा रही थी। उसकी पत्नी बुख़ार में बेहोश-सी थी। रज्जब ने अपनी कमर टटोली, रक़म सुरक्षित बंधी पड़ी थी।

रज्जब को स्मरण हो आया कि पत्नी के बुख़ार के कारण अंटी का कुछ बोझ कम कर देना पड़ा है—और स्मरण हो आया गाड़ीवान का वह हठ, जिसके कारण उसको कुछ पैसे व्यर्थ ही दे देने पड़े थे। इसको गाड़ीवान पर क्रोध था, परन्तु उसको प्रकट करने की उस समय उसके मन में इच्छा न थी।

बातचीत करके रास्ता काटने की कामना से उसने वार्तालाप आरम्भ किया—

'गांव तो यहां से दूर मिलेगा।'

'बहुत दूर, वहीं ठहरेंगे।'

'किसके यहां?'

'किसी के यहां भी नहीं। पेड़ के नीचे। कल सवेरे ललितपुर चलेंगे।'

'कल को फिर पैसा मांग उठना।'

'कैसे मांग उठूंगा? किराया ले चुका हूँ। अब फिर कैसे मांगूंगा?'

'जैसे आज गांव में हठ करके मांगा था। बेटा, ललितपुर होता, तो बतला देता!'

'क्या बतला देते? क्या सेंतमेंत गाड़ी में बैठना चाहते थे?'

'क्यों बे, क्या रुपये देकर भी सेंतमेंत का बैठना कहता है? जानता है, मेरा नाम रज्जब है। अगर बीच में गड़बड़ करेगा, तो नालायक को यहीं छुरे से काटकर कहीं फेंक दूँगा और गाड़ी लेकर ललितपुर चल दूँगा।'

रज्जब क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहता था, परन्तु शायद अकारण ही वह भली भांति प्रकट हो गया।

गाड़ीवान ने इधर-उधर देखा। अन्धेरा हो गया था। चारों ओर सुनसान था। आस-पास झाड़ी खड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था, कहीं से कोई अब निकला और अब निकला। रज्जब की बात सुनकर उसकी हड्डी कांप गई। ऐसा जान पड़ा, मानों पसलियों को उसकी ठण्डी छुरी छू रही हो।

गाड़ीवान चुपचाप बैलों को हांकने लगा। उसने सोचा—'गांव के आते ही गाड़ी छोड़कर नीचे खड़ा हो जाऊँगा, और हल्ला-गुल्ला करके गांववालों की मदद से अपना पीछा रज्जब से छुड़ाऊँगा। रुपये-पैसे भले ही वापस कर दूँगा, परन्तु और आगे न जाऊँगा। कहीं सचमुच मार्ग में मार डाले!'

५

गाड़ी थोड़ी दूर और चली होगी कि बैल ठिठककर खड़े हो गए। रज्जब सामने न देख रहा था, इसलिए ज़रा कड़ककर गाड़ीवान से बोला—'क्यों बे बदमाश, सो गया क्या?'

अधिक कड़क के साथ सामने रास्ते पर खड़ी हुई एक टुकड़ी में से किसी के कठोर कण्ठ से निकला—'ख़बरदार, जो आगे बढ़ा।'

रज्जब ने सामने देखा कि चार-पांच आदमी बड़े-बड़े लठ बांधकर न जाने कहां से आ गए हैं। उनमें तुरन्त ही एक ने बैलों की जुआरी पर एक लठ पटका और दो दाएँ-बाएँ आकर रज्जब पर आक्रमण करने को तैयार हो गए।

गाड़ीवान गाड़ी छोड़कर नीचे जा खड़ा हुआ। बोला—'मालिक, मैं तो गाड़ीवान हूँ। मुझसे कोई सरोकार नहीं।'

'यह कौन है?' एक ने गरज कर पूछा।

गाड़ीवान की घिग्घी बंध गई। कोई उत्तर न दे सका।

रज्जब ने कमर की गांठ को एक हाथ से सँभालते हुए बहुत ही विनम्र स्वर में कहा—'मैं बहुत ग़रीब आदमी हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी औरत गाड़ी में बीमार पड़ी है। मुझे जाने दीजिए।'

उन लोगों में से एक ने रज्जब के सिर पर लाठी उबारी। गाड़ीवान खिसकना चाहता था कि दूसरे ने उसको पकड़ लिया।

अब उसका मुँह खुला। बोला—'महाराज, मुझको छोड़ दो। मैं तो किराये से गाड़ी लिए जा रहा हूँ। गाँव में खाने के लिये तीन-चार आने के पैसे ही हैं।'

'और यह कौन है? बतला।' उन लोगों में से एक ने पूछा।

गाड़ीवान ने तुरन्त उत्तर दिया—'ललितपुर का एक क़साई।'

रज्जब के सिर पर जो लाठी उबारी गई थी, वह वहीं रह गई। लाठी वाले के मुँह से निकला—'तुम क़साई हो? सच बतलाओ!'

'हां, महाराज!' रज्जब ने सहसा उत्तर दिया—'मैं बहुत ग़रीब हूं। हाथ जोड़ता हूं मुझको मत सताओ। मेरी औरत बहुत बीमार है।'

औरत ज़ोर से कराही।

लाठी वाले उस आदमी ने अपने एक साथी से कान में कहा—'इसका नाम रज्जब है। छोड़ो। चलें यहां से।'

उसने न माना। बोला—'इसका खोपड़ा चकनाचूर करो। दाऊजू यदि वैसे न माने तो। असाई-क़साई हम कुछ नहीं मानते।'

'छोड़ना ही पड़ेगा,' उसने कहा-'इस पर हाथ नहीं पसारेंगे और न इसका पैसा छुएँगे।'

दूसरा बोला—'क्या क़साई होने के डर से? दाऊजू, आज तुम्हारो बुद्धि पर पत्थर पड़ गए हैं! मैं देखता हूँ।' और उसने तुरन्त लाठी का एक सिरा रज्जब की छाती में अड़ा कर तुरन्त रुपया-पैसा निकाल कर दे देने का हुक्म दिया। नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने ज़रा तीव्र स्वर में कहा—'नीचे उतर आओ। उससे मत बोलो। उसकी औरत बीमार है।'

'हो, मेरी बला से,' गाड़ी में चढ़े हुए लठैत ने उत्तर दिया—'मैं क़साइयों की दवा हूँ।' और उसने रज्जब को फिर धमकी दी।

नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने कहा—'ख़बरदार, जो उसे छुआ। नीचे उतरो, नहीं तो तुम्हारा सिर चकनाचूर किए देता हूं। वह मेरी शरण आया था।'

गाड़ीवान लठैत झख-सी मारकर नीचे उतर आया।

नीचे वाले व्यक्ति ने कहा—'सब लोग अपने-अपने घर जाओ। राहगीरों को तंग मत करो।' फिर गाड़ीवान से बोला—'जा रे, हांक ले जा गाड़ी। ठिकाने तक पहुंचा आना, तब लौटना। नहीं तो अपनी ख़ैर मत समझियो। और, तुम दोनों में से किसी ने भी कभी इस बात की चर्चा कहीं की, तो भूसी की आग में जला कर ख़ाक कर दूंगा।'

गाड़ीवान गाड़ी लेकर बढ़ गया। उन लोगों में से जिस आदमी ने गाड़ी पर चढ़कर रज्जब के सिर पर लाठी तानी थी, उसने क्षुब्ध स्वर में कहा—

'दाऊजू, आगे से कभी आपके साथ न आऊँगा।' दाऊजू ने कहा—'न आना। मैं अकेले ही बहुत कर गुज़रता हूं। परन्तु बुन्देला शरणागत के साथ घात नहीं करता, इस बात को गांठ बाँध लेना।'

पुरस्कार

(कृष्णानन्द गुप्त)

शिल्पी तल्लीन था सूर्यास्त का दृश्य देखने में। सूर्य उसके सम्मुख ही धीरे-धीरे डूब रहा था-उसके कितने निकट ! मानो डूबने से वह उसकी रक्षा कर सकता था। पार्श्व में उसकी पत्नी खड़ी थी। उसकी दृष्टि थी नीड़ों में विश्राम पाने के लिए पश्चिम की ओर उड़े जा रहे पक्षि-वृन्द की ओर। यह लक्ष्य करके कि पति का ध्यान भी वहीं है वह बोल उठी, 'प्रियतम ! यदि इन पक्षियों की भांति हम भी उड़ सकते···इस सुनील आकाश में···!'

शिल्पी ने दृष्टि फेरी और मानो अपने आप ही कहा—'उड़ सकते···इन पक्षियों की भाँति ?'

'हाँ, प्रियतम ! फिर कैसा मज़ा होता ! हम ज्यों-ज्यों ऊपर उठते, त्यों-त्यों पृथ्वी का विशाल अवगुंठन हमारे लिए खुलता-सा जाता। और फिर हम इतने ऊपर उठते, जहाँ से समस्त पृथ्वी को आकाश के नक्षत्र की तरह एक ही दृष्टि में समेट लेते।'

शिल्पी ठुड्डी पर हाथ रख कर आकाश की ओर देखता रह गया; फिर धीरे-धीरे बोला—'यह तो कुछ असम्भव नहीं···।'

उसकी पत्नी हँसी से लोट-पोट होकर बोली—'हां, ठीक कहते हो। ज़रूर कुछ असम्भव नहीं !'

'निस्सन्देह असम्भव नहीं,' शिल्पी ने कहा।

'पक्षियों की तरह आकाश में उड़ना ?'

'हाँ, जब पक्षी उड़ सकते हैं, तब मनुष्य को उड़ने के लिये क्या हुआ ?'

उसकी पत्नी फिर हसी से लोट-पोट हो गई और बोली—'तो चलो, हम दोनों उड़ चलें...'

परन्तु शिल्पी इस बार गम्भीर हो गया। वह सहसा सोचने लगा आकाश में उड़ने की बात! उसने अपनी पत्नी से कहा—'अच्छा मैं एक ऐसा आविष्कार करूंगा जिसकी सहायता से मनुष्य आकाश में पत्ती की भांति उड़ सकेगा। चिंता नहीं, यदि इसमें मेरा जीवन बीत जाय।'

और उसी दिन से वह आकाश में उड़ने का उपाय सोचने बैठ गया। वह घंटों घर की खुली छत पर बैठा रहता और सोचा करता, किस प्रकार मनुष्य आकाश में पत्ती की तरह उड़ सकता है। कभी-कभी तो यन्त्रालय में जाकर वह इतना कार्य-मग्न हो जाता कि और कामों की उसे सुध ही न रहती। यहाँ तक कि राजा के यहां भी वह अकसर समय पर नहीं पहुंच पाता। शुरू में तो उसकी पत्नी ने कोई बाधा उपस्थित नहीं की, परन्तु जब एक दिन शिल्पी ने आकर कहा—'मुझे अपने आविष्कार के लिए पूरा समय चाहिए, मैं राजा की नौकरी छोड़ता हूं' तब उसने घोर विरोध किया।

परन्तु सब व्यर्थ। शिल्पी अपने निश्चय पर अटल था। उसने कहा—'मैं मनुष्य के लिए ऐसे डैनों का आविष्कार करूंगा, जिनकी सहायता से वह वायु के समुद्र में इस तरह तैर सकेगा, जैसे मछली जल में तैरती है।'

'पर गृहस्थी कैसे चलेगी?' उसकी पत्नी ने कहा।

'गृहस्थी! गृहस्थी की चिंता क्या? मैं राजा के पास जाता हूँ। वे मेरी सहायता करेंगे।'

और वह राजा के पास पहुँचा। उसने निवेदन किया—'महाराज, अब मैं आपके यन्त्रालय में यन्त्र नहीं बना सकूंगा। मैं एक ऐसा आविष्कार करना चाहता हूँ जो मनुष्य के लिए आकाश में चलना सुगम कर दे। उसके लिए मुझे समय चाहिए और धन भी। समय तो मेरे पास है। आप धन से मेरी सहायता करें।'

राजा ने कहा—'ये सब पागलपन की बातें हैं। यदि तुम्हें काम नहीं करना है, तो अपने घर का रास्ता लो। तुम्हारी छुट्टी है।'

शिल्पी तब नगर के श्रीमानों के पास गया, पर एक-एक करके सबने उसे जवाब दे दिया।

तब उसकी पत्नी बोली—'अब क्या होगा?'

'कुछ नहीं। कष्ट तो होगा ही। मेरे कुछ यन्त्र हैं, यह घर है, तुम्हारे गहने हैं, इनसे काम चलाओ। तब तक मुझे सफलता मिल जायगी।'

पत्नी अब क्या करे? वह अपने पति का स्वभाव जानती थी। एक बार कोई निश्चय कर लेने पर वह फिर उस सम्बन्ध में वादविवाद करना पसन्द नहीं करता। इसलिए तर्क करना व्यर्थ समझ कर वह चुप होकर बैठी रही।

और शिल्पी अपनी शिल्प-शाला में जा बैठा, जहां वह सवेरे से अर्द्धरात्रि पर्यंत काम करता रहा। इस बीच में उसने विराम का नाम नहीं लिया। यह उसका नित्य-क्रम हो गया।

वह यन्त्र-शाला में बैठ जाता, और कल्पना के नेत्रों से मनुष्य को आकाश में पत्ती की भांति उड़ते देखता रहता। उसकी दृष्टि निरन्तर उसी उड़ान का पीछा करती जान पड़ती थी। वह न भर-पेट खाता था, न पूरी नींद सोता था। मानो अब आशा पर ही उसका जीवन अवलंबित था। उसने यन्त्रों के सैकड़ों नमूने बनाये और नष्ट कर डाले। सहस्रों प्रयोग किये और असफल रहा; परन्तु वह हताश नहीं हुआ। उसे प्रत्येक बार इसका पूरा विश्वास रहता कि अगले प्रयोग में अवश्य उसे सफलता मिलेगी।

पत्नी उसे समझाती कि वह क्यों व्यर्थ के इस झमेले में पड़ा है। परन्तु वह अपनी धुन के सामने किसी की क्यों सुनने चला? लाचार होकर उसने कहना छोड़ दिया। उसे विश्वास हो गया कि पति की यह सनक दूर नहीं होगी। उसके पास कुछ रुपये थे, जिनसे कुछ दिन तक

उसने गृहस्थी का खर्च चलाया। फिर एक-एक करके अपने गहने बेच डाले और जब वे भी नहीं रहे, तब छिपे-छिपे मज़दूरी करने लगी। पति के लिए वह सब कुछ करने को तैयार थी।

अब शिल्पी का यह हाल हो गया कि वह महीनों अपनी कोठरी से बाहर न निकलता। कब सूर्योदय हुआ और कब सूर्यास्त, उसे जान तक न पड़ता। वह केवल देखता था डैने—ऐसे डैने, जिनसे मनुष्य पत्ती की तरह आकाश में उड़ सके।

एक दिन उसकी पत्नी भोजन लेकर जब उसके निकट पहुँची, उसने शिशु की भांति आनन्द से किलकिलाते हुए कहा—'मेरी आधी कठिनाई दूर हो गई। मुझे तरकीब मालूम हो गई। उसे कार्य रूप में परिणत भर करना है। यदि मैं किसी प्रकार कृष्ण पारद को बांध सकूं तो मनुष्य के लिए आकाश में उड़ना ऐसा ही सहज हो जाये, जैसा पत्ती के लिए।'

अब उसकी दृष्टि क्षीण हो गई थी। हाथ कांपने लगे। शरीर में उठने का बल नहीं था। जान पड़ता था, वह अपने आविष्कार के लिए ही जीवन धारण किये हैं।

अन्त में एक दिन प्रभात-समय, जब बाहर दिनमणि की किरणें खिल रही थीं, उसने क्षीण उत्फुल्ल स्वर में अपनी पत्नी से कहा—'डैने बन गये और आज मैं इनकी परीक्षा करूंगा।'

वह डैने लगाकर बाहर निकला, और आश्चर्य धीरे-धीरे वायु में ऊपर उठने लगा।

उसकी पत्नी अवाक् होकर देखने लगी। उसका पति आकाश में उड़ रहा था! वह आनन्द से नृत्य करने लगी।

जिसने देखा, वही आश्चर्य से स्तब्ध होकर रह गया। ख़बर महाराज के पास भी पहुंची। वह राजमहल की सबसे ऊंची अट्टालिका पर चढ़ गये और देखने लगे—शिल्पी ने फैला कर उज्ज्वल नील गगन में उड़ रहा था, जैसे कोई सुनहला गरुड़ पत्ती। उनके आश्चर्य का

ठिकाना न रहा। 'अद्भुत! अद्भुत!' कहते हुए वह नीचे उतरे और शिल्पी के घर की ओर चल दिये। मार्ग में जो मिला वह भी उनके साथ हो लिया। शिल्पी के मकान के सम्मुख विशाल जन-समूह एकत्र हो गया। सब कोई कुतूहल और प्रशंसा-भरी दृष्टि से आकाश को देखने लगे, मानो वहां आज किसी नवीन ज्योतिष्क का उदय हुआ है।

शिल्पी अब नीचे उतरने लगा। उसे देखने के लिए भीड़ उमड़ पड़ी। महाराज उसकी अभ्यर्थना के लिए आगे बढ़े। उन्होंने कंठ से रत्नहार और हाथ से मणि-खचित स्वर्ण-वलय उतार लिये, शिल्पी को पुरस्कृत करने के लिए।

शिल्पी दर्शकों के सामने आ गया। वह धीरे-धीरे उतर रहा था, ठीक जैसे पक्षी आकाश से नीचे उतरता है। धरती पर उसके पैर भी न जमने पाये थे कि महाराज ने आगे बढ़ कर उसे हाथों पर ले लिया और गद्गद् होकर कहा—'धन्य हो तुम! और धन्य है हमारा यह देश, जहां तुम जैसे शिल्पी ने जन्म लिया है! हम सब तुम्हारी संवर्द्धना करने यहां आये हैं।'

यह कह कर उन्होंने रत्नहार आगे बढ़ाया। दर्शकों ने पुष्प-वर्षा की परंतु शिल्पी उनकी गोद में निस्पंद था—मुंह बन्द, आँखें खुली हुई और श्वास का नाम नहीं।

—❀—

उपहार

(भगवतीप्रसाद वाजपेयी)

विमला खाना परोस रही थी। कमल बैठा पत्र लिख रहा था। वह सोचता था कि जब इसे समाप्त कर लूंगा, तब उठूंगा। देर ही क्या है, कुछ भी तो और अधिक नहीं लिखना। बस, यही दो-तीन—हाँ, दो-ही-पंक्तियां और लिखने को हैं कि फिर मैं हूँ और भोजन।

और विमला मन ही मन झुंझला रही थी कि जब तक मैं शाक पकाऊँ पकाऊँ, तब तक तो आफत मचा दी। दो-दो मिनट में विकल हो-होकर पूछते रहे कि कितनी देर है--कितनी देर है! और अब जब मैं खाना परोसने लगी, तो 'आया आया, बस अभी हाल आया' कह रहे हैं--मगर आते नहीं! बस, इनकी यही प्रकृति मुझे अच्छी नहीं लगती। कितनी तकलीफ़ होती है खाना पकाने में! बनाना पड़े, मालूम हो जाय। और मालूम क्या हो जाय, खुद भी तो न खा सकें उसे! फिर भी किसी तरह जो मर-खप के बना भी लूँ तो यह हाल है इनका कि मुझे ही बेवकूफ बनना पड़ता है। कुछ कहो, तो झट जवाब दे बैठेंगे कि फिर बनाती ही बेकार हो--मैंने तो हजार बार कहा कि महाराजिन रख लो।...मैं भी बैठी रहूँगी, इसी तरह। जब बुलाना व्यर्थ है, तो बुलाया ही क्यों जाय? न, मैं अब नहीं बुलाऊँगी, नहीं, किसी तरह नहीं।

'अरे सुनती हो?'

विमला को ही लक्ष्य करके कमल ने कहा था। लेकिन विमला ने सुनकर भी नहीं सुना। उसने कोई उत्तर नहीं दिया। वह क्यों उत्तर दे? किसका उत्तर दे? किसे उसके उत्तर की अपेक्षा है? जब कहते-कहते हार गई, तब नहीं आये। और अब इतनी देर के बाद भी, वहीं से

कहते हैं--सुनती हो ? कौन सुनती है ? कोई नहीं सुनती ! क्यों सुने कोई ? क्या पड़ी है उसे, जो सुने ? वह नहीं सुनती है। कोई नहीं सुन रहा है। कोई सुनने क्यों लगा ? वह सुनती तो है, मगर नहीं सुनती। हाँ, नहीं सुनती।

कमल अब उठकर उसके पास चला आया। वह चला तो आया, पर निकट खड़ा रहकर बोला—कुछ लोग आ गये हैं और उनसे इसी समय दो बातें कर लेनी हैं। बेचारे बड़ी दूर से आये हैं। मुझसे यह नहीं हो सकता कि उन्हें बैरंग वापस लौटा दूं। कुछ वक्त देना ही पड़ेगा। कुछ ऐसी ही आवश्यकता है। समझती हो न ? तुम अब खाना खाओ। मुझे शायद देर ही लग जाय।...शायद क्या, बल्कि निश्चित है देर लग जाना।

विमला ने पहले तो चाहा कि वह चुप ही रहे अब भी, उनकी इस बात का कोई उत्तर न दे। किन्तु वह वास्तव में इस प्रकार की नारी नहीं है। परिस्थिति और कारण को लेकर उसकी मर्यादा की अवमानना करना उसकी प्रकृति के प्रतिकूल है। वह अतीत से उलझी रहती है क्योंकि उसी का प्रभाव लेकर भविष्य को देखती है; किन्तु वर्तमान की उपेक्षा उसे स्वीकार नहीं होती। अतएव उसने कहा--किन्तु क्या दस-पांच मिनट के लिए उन्हें रोक नहीं सकते ? वे लोग क्या तुम्हारा इस समय भोजन करना भी रोक देना उचित समझेंगे ? तुम्हारी असुविधा का क्या उन्हें कुछ भी ख़याल न होगा ?

कमल ने लक्ष्य किया, विमला खुद भी भूखी है। समय भी अधिक हो गया है। इसी स्थिति में उसने भोजन बनाया है। कितनी देर से वह प्रतीक्षा में बैठी है। और अब, जब कि मुझे उसके साथ बैठकर खाना चाहिये, मैं उससे इस प्रकार का प्रस्ताव कर रहा हूँ?

उसने एक बार फिर जो विमला के उत्तप्त अरुण मुख क ओर ध्यान से देखा तो उसे अपना प्रस्ताव सर्वथा अप्रीतिकर प्रतीत हुआ। वह लौट पड़ा। लौटते हुए कह गया—अच्छा, तो मैं अभी आया।

उन्हें कमरे में आदर के साथ बिठा आऊँ और साथ ही दस मिनट तक और अधिक प्रतीक्षा करने की अनुमति ले आऊँ।

'ओह ! तुम आये हो—मेरे राधाकान्त बाबू--यह डेपूटेशन लेकर, अच्छा। लेकिन, यार बहुत दिनों में मिले हो, और फिर इस डेपूटेशन के साथ। खैर, मैं अभी आया। मैंने अभी तक भोजन नहीं किया है। कुछ इतने आवश्यक कार्यों में लगा रहा कि भोजन करने तक को समय पर न उठ सका। जा ही रहा था कि पता चला, आप लोग तशरीफ़ लाये हैं।' कमल ने स्वाभाविक उल्लास-मुखरित ढंग से कहा।

'अच्छा तो है। कर आओ भोजन; लेकिन अकेले ही अकेले भोजन कर लोगे ?' राधा बाबू ने हास के मृदुल दोलन में, साधारणतया कह दिया—उसी प्रकार, जैसे कोई भी मित्र दूसरे से ऐसी स्थिति में प्रायः कह देता है।

'अच्छी बात है, मेरा सौभाग्य ! चलो, तुम भी चलो।' कमल के उत्तर के साथ उसका हार्दिक उल्लास भी मिश्रित होकर फूट निकला।

'ऐसे नहीं जाता। इस तरह तुमको तो कुछ मालूम न होगा, किंतु दूसरी आत्मा को जो आकस्मिक कष्ट होगा, उसे मैं कैसे सहन करूंगा ? न यार कमलेश, मुझे इस समय भोजन नहीं करना है, मैं तो यों ही कह उठा था। मैं भोजन कर चुका हूँ।' राधा बाबू कहते-कहते गम्भीर हो उठे।

कमल ने लक्ष्य किया, यह राधाकान्त एक समय कितना चटुल था ? क्लास भर इसके मारे परेशान, बल्कि एक प्रकार से आन्दोलित रहती थी। और आज देखता हूँ कि इस कालान्तर में ही वह कैसा विवेकशील बन गया है।

तब उस राधाकान्त के प्रति कमल पहले अजेय आदरभाव से देख कर रह गया, फिर कुछ सोच-समझ कर बोला—'नहीं राधे; असुविधा की कोई बात न होगी। कम पड़ेगा तो कुछ और बाज़ार से मंगवा लूंगा। चलो, चलो; अब तुम्हें चलना पड़ेगा।'

❀ ❀ ❀

'मेरे एक मित्र भी खायेंगे विमला ! बड़े ज़बरदस्त आदमी हैं। इच्छामात्र करने से सफलता इनके चरण चूमती रही है। मुझे इनका क्लासफेलो रहने का गौरव प्राप्त हो चुका है। मुझे पता ही न था कि जेल जा-जाकर भी यह शैतान बजाय दुर्बल पड़ने के इतना मोटा पड़ जायगा। देखती क्या हो, वज़न में तीन मन से कम न होगा। यह जो कुछ भी तुमने बना रखा है, मैं तो समझता हूँ, केवल इसके लिए भी काफ़ी न होगा।' कमल ढूंढ-ढूंढकर ऐसे शब्दों का प्रयोग कर रहा है, जिससे विमला को पता चल जाय कि उसका यह मित्र ऐसा-वैसा साधारण व्यक्ति नहीं है। बड़ा आदमी तो वह है ही, साथ ही उसका घनिष्ट मित्र भी है।

तब विमला ने स्वामी के इस घनिष्ट मित्र को केवल एक दृष्टि से देखकर साड़ी को सिर पर, आगे तक, कुछ और खिसका लिया। दो थालियों में भोजन जैसा परोस कर रखा था, उसे पूर्ववत् न रख कर उसमें से थोड़ा-थोड़ा कम कर लिया, क्योंकि आकस्मिक आतिथ्य और समय-असमय के जलपान के लिये जो मिष्ट और सलोने खाद्य पदार्थ उसने बना रखे हैं, उनका भी उपयोग उसे अब करना है। बाज़ार से ही कुछ मंगाना पड़ा, तो फिर गृहस्थी की मर्यादा ही क्या रही ?

तुरन्त उसने कहा—'आइये।'

तब कमल अपने राधे को लेकर भोजन करने बैठ गया। वह भोजन कर रहा है और साथ ही साथ कुछ सोचता भी जाता है। यों निरन्तर उसे कुछ न कुछ सोचना ही पड़ता है। बात कम, काम अधिक—यही उसकी प्रकृति है। किन्तु जब कोई मित्र आया हो और साथ में बैठा भोजन कर रहा हो, तब भी मौन ही बने रहना तो कुछ अधिक उत्तम या आवश्यक, प्रीतिकर या शोभन, प्रतीत नहीं होता। मानो इसी बात को लक्ष्य कर कमल ने कह दिया—और कहो राधे; खूब अच्छी तरह से हो न ? किसी प्रकार की कोई असुविधा या कष्ट या···और क्या कहूँ ?

अन्तिम शब्द कहते-कहते कमल राधे के मुंह की ओर देखकर हंस पड़ा।

'देखता हूँ, तुम बहुत बड़े आदमी हो गये। यहां तक कि तुमने इतना वैभव अर्जित कर लिया, इतना कि तुम्हें देखकर मुझे ईर्ष्या होती है, तो भी तुम्हारा वह असाधारण सारल्य ज्यों का त्यों बना है!' राधे भोजन करते हुए अपनी ये बातें इतने मन्द क्रम से करता जाता है कि न तो उसकी आहार-गति प्रतिहत होने पाती है, न वार्ताविनोद में ही किसी प्रकार की अरोचक मति का संयोग हो पाता है। साथ-ही-साथ वह कभी-कभी विमला पर भी एक दृष्टि डाल देता है।

'तो तुम्हारा ख़याल यह है कि काल-गति से हमारी प्रकृति भी बदल जाती है! लेकिन भाई राधे, मैं ऐसा नहीं मानता। जीवन के प्रकम्पित अवधान हमारी गति बदल सकते हैं, हमारे आचार-व्यवहार की रूपरेखा को भी उलट-पुलट डालते हैं। मैं यह मानता हूँ। किन्तु...किन्तु हमारी नैसर्गिक प्रकृति पर उनका अनुशासन कभी चल नहीं सकता, क्षणिक परिवर्तन करने में भले ही वे यदा-कदा सफल होते रहें।'

राधे कमल की इस बात को सुनकर मुसकराने लगा।

और कमल ने उसके इस हास की यथार्थता को लक्ष्य करके कहा—'जान पड़ता है, मेरे साथ तुम्हारा मतभेद पूर्ववत् बना है।'

विमला दोनों को बातें करती छोड़कर भण्डार में चली गई थी। लौटकर उसने दो-दो कटोरियों में मिष्टान्न और नमकीन पदार्थ दोनों थालियों के निकट रख दिये। तब उसी समय एक कटोरी से कुछ खुरमे एक साथ उठाकर मुंह में डालने के पूर्व राधे बोला—'तुम्हारे गार्हस्थ्य-जीवन के इस सफल स्वरूप के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ कमलेश!'

कमल हंसने लगा। बोला—'अच्छा-अच्छा यह बात है! धन्यवाद। फिर विमला की ओर उत्फुल्ल लोचनों से देखकर कहने लगा--'सुनती हो विमला, राधे तुम्हें बधाई दे रहा है।'

विमला चाहती तो उत्तर में कुछ कह सकती थी। किन्तु वह कुछ कह न सकी। हाँ, विकल्प में थोड़ी मुड़कर, कढ़ाई में रखे हुए शाक को एक कटोरे में सम्हालकर रखने में व्यस्त अवश्य हो गई।

तब राधे ने उस समय न तो विमला को कुछ कहने का अवसर दिया, न कमलेश को। अब वह उसकी उस बात पर आ गया, जिस पर उसे मतभेद था। वह बोला—हाँ, तुम्हारी उस बात को तो मैं भूल ही गया था, प्रकृति परिवर्तन के सम्बन्ध में जो तुमने अभी कही थी।'

'हाँ, हाँ कहो, कहो। मैं जानना चाहता हूँ, इस विषय में तुमने क्या अनुभव किया है, तुम्हारे विचार क्या हैं, कमल ने कहा ही था कि राधे बोल उठा--'असल बात यह है कमलेश भाई, कि मनुष्य की प्रकृति ही को पहले ज़रा समझ लेने की ज़रूरत है। क्या उसकी प्रकृति है, और क्या अप्रकृति वास्तव में इसी का समझ लेना आवश्यक है। लोग प्रायः कहा करते हैं, फलां आदमी तो बिल्कुल ही बदल गया। लोग उसकी रूप-रेखा, उसके आकार-प्रकार को देखकर ही प्रायः इस तरह की बातें कह डालते हैं। पर परिस्थितियों के चक्र में घूमते और छिन्न-भिन्न होते हुए उसके क्षण-क्षण के जीवन को देखकर वे यह नहीं सोचते कि प्रकाश सदा प्रकाश ही रहता है। यह बात दूसरी है कि कोई प्रकाश दिन का हो, कोई निशा का। अब यहाँ प्रश्न यह है कि दिन का प्रकाश तो प्रकाश है और उसे संसार स्वीकार करता है। किन्तु जो प्रकाश रजनी अन्तर से फूटा हुआ है, वह अन्धकार क्यों है?'

तब तत्काल उत्तरंग मानस से कमलेश बोल उठा—'वन्डरफुल! कितनी अच्छी बात तुमने अनायास कह डाली! वाह!!'

विमला ने उसी समय एक बार राधे के उस तेजोमय मुख की ओर दृष्टिक्षेप किया। थोड़ी देर से उसकी छाती के भीतर भूकम्प-कालीन रत्नाकर की भांति जो भीम विस्फूर्जन प्रध्वनित हो रहा था, राधे के इस कथन को लेकर और फिर एक बार उसकी ओर देखकर अब वह बिल-कुल शिथिल, ध्वस्त हो उठा। जिस त्यक्त अतीत ने आज अभी उसके

मन-प्राण तक को बार-बार स्तम्भित, विकल-विकम्पित कर-करके एक अव्यक्त अभियोग से अतिशय अस्थिर किंवा विमूढ़ कर डाला था, निमेष मात्र के इस वैकल्पिक उपायन से उसके पराभूत चित्त की सारी दुर्बलता बात की बात में निष्प्रभ प्रशान्त हो उठी।

इसी समय भोजन करके दोनों मित्र उठ खड़े हुए।

❀ ❀ ❀

रात के ग्यारह बजे हैं। कमलेश सो रहा है। पास ही विमला भी लेटी हुई करवटें बदल रही है। कुछ स्वप्न उसके मानस-पट पर उतर आये हैं।

'तुम्हारी यह आदत अच्छी नहीं है, भैया!'

'कौन-सी?'

'पूछते हो कौन-सी!'

'लो, जब मालूम नहीं है, तब पूछना भी गुनाह है!'

'हां, गुनाह। मैं तुमसे भैया जो कहती हूँ।'

वह चुप रह गया। उसका मुख यकायक उतर गया। कोई बात वह फिर न कह सका। तब वह चलने लगी। कुछ उद्विग्न होकर अपना तिरस्कार अपने ऊपर लादकर। किंतु उसी समय उसने सुना, वह कह रहा है—'मेरी इस बुरी आदत के अनुभव करने का तुम्हें अब कभी अवसर न मिलेगा विमला। मैं यहां से चला जाऊंगा।'

वह लौट पड़ी। अपनी मर्यादित गम्भीरता से विचलित होकर वह बोली—'सचमुच, क्या तुम कानपुर छोड़ दोगे?'

'छोड़ना ही पड़ेगा विमला; क्योंकि मनुष्य की प्रकृति बदल नहीं सकती'। उत्तर में वह कुछ कह न सकी थी। यद्यपि उन निर्वाक् निस्पन्द, निष्ठुर क्षणों ने उसके इस जीवन को ही व्यर्थ कर डाला, तो भी उन क्षणों को वह फिर कभी न पा सकी। आज तक न पा सकी।

किन्तु वह था कितना दृढ़प्रतिज्ञ! उसने कानपुर छोड़ ही दिया। यद्यपि उसने कोई अपराध नहीं किया था। एकमात्र यही आदत थी

उसकी कि वह मुझे देखकर पुलकित हो उठता था। उसके उस हास्य-मुखरित आनन की उद्दीप्त आभा, उसी की उल्लास-तृप्त आँखें, अपना आन्तरिक भाव प्रकट करने का लोभ संवरण न कर सकती थीं। मुहल्ले की बात ठहरी। वह कभी अपनी सखियों के साथ निकलती, कभी मा-भाभी के साथ। और इन सबके साथ निकलने पर भी वह उसकी ओर एक बार देखे बिना मानता न था। फलतः एक अदम्य बहिरभिमुखी लज्जा से वह बिलकुल संकुचित तथा अभिभूत हो उठती थी।

बस, यही उसका अपराध था—और उससे संलग्न यही उसकी असुविधा! और उसके बाद यह आज का दिन है।

'तुम्हारे गार्हस्थ्य जीवन के इस सफल स्वरूप के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ।' और मेरे गार्हस्थ्य जीवन का यह कैसा सफल स्वरूप है! किन्तु 'जो प्रकाश रजनी के अन्तर से फूटा हुआ है, वह अन्धकार क्यों है?' कौन कहता है कि वह अन्धकार है! क्या अब भी किसी में इतना साहस है कि वह उसे अन्धकार कह सके? किन्तु यह बात तो तुमने अपने आपको देखकर कह डाली है, क्योंकि तुम एक प्रकार के अकल्पित स्वप्न हो। किन्तु यह तो एक कविता हुई। और इस विमला के भीतर जो नारी है, वह तो वैसी उस प्रकार की निरी कविता नहीं है, उसका एक शरीर है, एक हृत्पिंड। कभी उसे छूकर देखते तो जान पाते कि बाहर से प्रकाशमयी झलक मारने वाली इस विमला के भीतर का अन्धकार अभी तक पूर्ववत् स्थिर है। अपने स्थान से टस-से-मस भी नहीं है। अभी तक उसके भीतर की गर्वित नारी उसी प्रकार तृषित है, जैसी वह कभी पहले थी। उसके प्रकृत स्वरूप का सांगोपांग अर्थ किया ही नहीं जा सका—यहां तक कि वह अभी तक माँ भी नहीं हो सकी! और फिर भी तुम उसके गार्हस्थ्य जीवन का साफल्य देखने चले थे! ओह! इस परिवार का अन्तरंग न देखकर उसके बाह्य स्वरूप पर तुम ऐसे मुग्ध हो उठे कि एक बधाई भी उसे दे डाली। किन्तु तुम्हारी यह बधाई तो उन्हीं के लिए थी। मेरे साथ उसका सम्बन्ध क्या? न, वह बधाई मेरे लिए नहीं है, नहीं है।

किन्तु ठीक तो है। उन्होंने कह डाला था—'सुनती हो विमला, राधे तुम्हें बधाई दे रहा है।'

'लेकिन उनके कहने से भी वह बधाई मेरे लिए नहीं हो सकती। वह उनके लिए थी, हाँ उन्हीं के लिए। तो क्या वास्तव में वे बधाई के पात्र हैं ? क्यों भला ? क्या वे बधाई के पात्र केवल इसलिए हैं कि मेरे जीवन की यह धारा भी उन्हीं के साथ-साथ प्रवाहित हो रही है। तो तुम सोचते हो कि यह विमला अभी तक इसमें समर्थ है कि उसकी संगति का योगमात्र किसी को भी बधाई का पात्र बना सकता है ? उफ़, तुम ऐसा क्यों मानते हो राधे भैया ? क्या तुम अपनी प्रतिज्ञा भूल गये ? क्या तुम्हें याद नहीं रहा कि तुमने किसी को कुछ कहा था ? कहा था कि मेरी इस बुरी आदत के अनुभव करनेका अब तुम्हें कभी अवसर न मिलेगा !···तो फिर इतने दिनों के बाद तुमने यह अवसर क्यों दिया ?'

झर, झर, झर !

ये आंसुओं के बूंद हैं कि सुधार्णव के मोती !

ओह ! जीवन के ये दस वर्ष यों ही बीत गये। युग पलटा, कितने भूकम्प आये। कितनी रिम-झिम रातें, कितनी शारदी निशाएं, कितने वासन्तिक दोलन आये और गये, किन्तु राधे की छाया भी कहीं न देख पड़ी। और एक युग के बाद, जान बूझकर भी नहीं, अनायास वे जो इस कुटीर में आ ही पड़े, तो यह विमला, यह मूर्त कालिमा अपने आप को न देखकर दोष देती है उसे, जो दिवाकर की भांति वरेण्य और मनस्वी है !

'तो तुम मुझ से बोले क्यों नहीं ? कुछ विस्मय और कुछ दुलार से ओत-प्रोत होकर तुमने मुझे निकट पाकर, मेरा नाम लेकर पुकारा क्यों नही ? तुम्हारी मुद्रा इतनी गम्भीर क्यों बनी रही ? एक बार भी सिर उठाकर तुमने मुझे ध्यान से देखा क्यों नहीं ? हूँ, मुझसे छूटकर जाओगे कहां !'

झर, झर, झर !

ये अमृत के बूंद क्रमागत रूप से क्यों आ रहे हैं ? झरने से बूंद तो यों निरन्तर आ सकते हैं; किन्तु इस प्रकार के अमृत-बूंदों को वह कहाँ से लायेगा ? और उनके निस्राव के साथ यह निःस्वन कैसा है ! ये रुन की सिसकियां हैं कि निर्झर की उत्ताल ऊर्मिमालाओं का अजस्र मुखरित महोल्लास।

+ + +

'एं ! तुम रोती हो विमला ?'

यकायक उठकर झट से विद्युत-प्रकाश प्रस्फुटित कर कमल विमला के पलंग पर आकर उससे मिश्रित होकर बैठ गया। फिर उसके सिर की कुन्तलराशि, वेणी और उसके अन्तिम छोर तक अपना वाम हस्त फेरते हुए बोला—'रोती क्यों हो विमला ? बतलाओ। मैं जानना चाहता हूँ, क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है ?'

अब विमला आंसू पोंछकर, स्थिर होकर, बैठ गई। उसका एक हाथ अब भी कमल के हाथों में था। उसके रुद्र गम्भीर मुख की अप्रकृत भंगिमा देखकर कमल यकायक स्तब्ध हो उठा और उसी समय विमला बोली—'अपराध ?···अपराध की बात पूछते हो ?'

'हाँ।'

'तो इस राधे को तुम अन्दर क्यों ले आये ! किससे पूछकर ले आये ?'

कमलेश आवाक् हो उठा। तुरन्त तो वह कोई भी उत्तर न दे सका। किन्तु क्षण भर के बाद बोला—'वह मेरा एक मित्र था, चिरपरिचित मित्र। उसका स्वागत-सत्कार करना मेरे लिये आवश्यक था···किन्तु वह कोई भी हो, उसके सम्बन्ध में इतना सोचने की आवश्यकता ही क्या है ?'

'वह क्यों आया था ?'

'एक प्रस्ताव लेकर।'

'क्या उत्तर दिया ?'

'उसकी बात मान लेना ही मैंने उचित समझा । स्वदेश के पीछे उसने अपना जीवन उत्सर्ग कर रखा है । उसे निर्विरोध कौंसिल में जाना चाहिये । उसके पक्ष में मैंने आपको रोक लिया है ।'

'जी—व—न—उ—त्स—र्ग कर—र—खा है !' विमला ने अतिशय मन्द स्वर में अटक-अटक कर इस तरह कहा कि कमल उसकी अपरूप मुद्रा को देखकर चकित-स्तम्भित हो उठा । क्षण-भर रुककर बोला—'बात क्या है विमला ? मैं ज़रा साफ़-साफ़ जानना चाहता हूँ ।'

'वह मेरा शत्रु है । मेरी जीवन-धारा को उसने व्यर्थ ही में विकृत करने की चेष्टा की है । मुहल्ले के नाते से मैं उसकी बहन होती हूँ । फिर भी जान-बूझकर उसने मेरी अवहेलना की । मैं इसे कैसे सहन कर सकती हूँ ?'

× × ×

'अरी पगली—यह मेरी ही भूल है ! लेकिन तुम जानती हो विमला, मैं कुछ आज का नया भुलक्कड़ नहीं हूँ ।···खैर, मुझे इसका दुःख है ।' चलते-चलते वह अपनी सोने की घड़ी तुम्हें भेंट-स्वरूप दे गया है । उसने कहा भी था—'यह घड़ी मेरी बहन को दे देना । तुम उसे ले लो अभी । वह मेरे कोट के भीतरी जेब में पड़ी है ।'

और विमला सोचती है—यह उपहार है कि मृत्यु !

———

अकबरी लोटा

(अन्नपूर्णानन्द वर्म्मा)

लाला झाऊलाल को खाने-पीने की कमी नहीं थी। काशी के ठठेरी बाज़ार में मकान था। नीचे की दुकानों से एक सौ रुपये मासिक के करीब किराया उतर आता था। बच्चे-बच्चे अभी थे नहीं, सिर्फ दो प्राणी का ख़र्च था। अच्छा खाते थे, अच्छा पहनते थे। पर ढाई-सौ रुपये तो एक साथ आंख सेकने के लिये भी न मिलते थे।

इसलिये जब उनकी पत्नी ने एक दिन यकायक ढाई-सौ रुपये की मांग पेश की तब उनका जी एक बार जोर से सनसनाया और फिर बैठ गया। जान पड़ा कि कोई बुल्ला है जो बिलाने जा रहा है। उनकी यह दशा देख कर उनकी पत्नी ने कहा—'डरिये मत, आप देने में असमर्थ हों तो मैं अपने भाई से मांग लूँ।'

लाला झाऊलाल इस मीठी मार से तिलमिला उठे। उन्होंने किंचित् रौब के साथ कहा—'अजी हटो! ढाई सौ रुपये के लिये भाई से भीख मांगोगी? मुझसे ले लेना।'

'लेकिन मुझे इसी ज़िन्दगी में चाहिये।'

'अजी इसी सप्ताह में ले लेना।'

'सप्ताह से आपका तात्पर्य सात दिन से है या सात वर्ष से?'

लाला झाऊमल ने रौब के साथ खड़े होते हुए कहा—'आज से सातवें दिन मुझसे ढाई-सौ रुपये ले लेना।'

'मर्द की एक बात।'

'हाँ जी, हाँ! मर्द की एक बात।'

लेकिन जब चार दिन ज्यों-त्यों में यों ही बीत गये और रुपयों का कोई प्रबन्ध न हो सका, तब उन्हें चिन्ता होने लगी। प्रश्न अपनी

प्रतिष्ठा का था, अपने ही घर में अपनी साख का था। देने का पक्का वादा करके अगर अब न दे सके तो अपने मन में वह क्या सोचेगी ? उसकी नज़रों में उनका क्या मूल्य रह जायगा ? अपनी वाह-वाही की सैकड़ों गाथाएं उसे सुना चुके थे। अब जो एक काम पड़ा तो चारों खाने चित्त हो रहे। यह पहली बार उसने मुंह खोलकर कुछ रुपयों का सवाल किया था। इस समय अगर वे दुम दबा कर निकल भागते हैं तो फिर उसे क्या मुँह दिखलायेंगे ? मर्द की एक बात—यह उसका फ़िकरा उनके कानों में गूंज-गूंज कर फिर गूंज उठता था।

खैर, एक दिन और बीता। पांचवें दिन घबराकर उन्होंने पं० विलवासी मिश्र को अपनी विपदा सुनाई। संयोग कुछ ऐसा बिगड़ा था कि विलवासी जी भी उस समय बिल्कुल खुक्क थे। उन्होंने कहा कि मेरे पास हैं तो नहीं पर मैं कहीं से मांग-जांच कर लाने की कोशिश करूंगा और अगर मिल गये तो कल शाम को तुम से मकान पर मिलूंगा।

यही शाम आज थी। हफ्ते का अन्तिम दिन। कल ढाई-सौ रुपया या तो गिन देना है या सारी हेकड़ी से हाथ धोना है। यह सच है कि कल रुपया न पाने पर उनकी स्त्री उन्हें डामल फांसी न कर देगी—केवल ज़रा-सा हंस देगी। पर वह कैसी हंसी होगी। इस हंसी की कल्पना मात्र से लाला झाऊलाल की अन्तरात्मा में मरोड़ पैदा हो जाती थी।

अभी पं० विलवासी मिश्र भी नहीं आये। आज शाम को उनके आने की बात थी उन्हीं का भरोसा था। यदि न आये तो ? या कहीं रुपये का प्रबन्ध वे न कर सके ?

इसी उधेड़-बुन में पड़े हुए लाला झाऊलाल छत पर टहल रहे थे। कुछ प्यास मालूम पड़ी। उन्होंने नौकर को आवाज़ दी। नौकर नहीं था। खुद उनकी पत्नी पानी लेकर आईं। आप जानते ही हैं कि हिन्दू-समाज में स्त्रियों की कैसी शोचनीय अवस्था है। पति

नालायक को प्यास लगती है तो स्त्री बेचारी को पानी लेकर हाज़िर होना पड़ता है।

वे पानी तो ज़रूर लाईं पर गिलास लाना भूल गई थीं। केवल लोटे में पानी लिए हुए वे प्रकट हुईं। फिर लोटा भी संयोग से वह जो अपनी बेढंगी सूरत के कारण लाला झाऊलाल को सदा से नापसन्द था। था तो नया, साल ही दो साल का बना, पर कुछ ऐसी गढ़न उस लोटे की थी कि जैसे उसका बाप डमरू, मां चिलमची रही हो।

लाला झाऊलाल ने लोटा ले लिया, वे बोले कुछ नहीं, अपनी पत्नी का वे अदब मानते थे। मानना ही चाहिए। इसी को सभ्यता कहते हैं। जो पति अपनी पत्नी की पत्नी न हुआ वह पति कैसा? फिर उन्होंने यह भी सोचा होगा कि लोटे में पानी हो तब भी ग़नीमत है। अभी अगर चूं कर देता हूँ तो बाल्टी में जब भोजन मिलेगा तब क्या करना बाकी रह जायगा।

लाला झाऊलाल अपना गुस्सा पीकर पानी पीने लगे। उस समय वे छत की मुंडेर के पास खड़े थे। जिन बुजुर्गों ने पानी पीने के सम्बन्ध में यह नियम बनाये थे कि खड़े-खड़े पानी न पियो, सोते समय पानी न पियो, दौड़ने के बाद पानी न पियो। उन्होंने पता नहीं कभी यह नियम भी बनाया था या नहीं कि छत की मुंडेर के पास खड़े होकर पानी न पियो। जान पड़ता है इस महत्त्वपूर्ण विषय पर उन लोगों ने कुछ नहीं कहा है।

इसलिए लाला झाऊलाल ने कोई बुराई नहीं की अगर वे छत की मुंडेर के पास खड़े होकर पानी पीने लगे। पर मुश्किल से दो एक घूंट वे पी पाये होंगे कि न जाने कैसे उनका हाथ हिल उठा और लोटा हाथ से छूट गया।

लोटे ने दाहिने देखा न बांये। वह नीचे गली की ओर चल पड़ा अपने वेग में उल्का को लजाता हुआ आंखों से ओझल हो गया।

किसी ज़माने में न्यूटन नाम के किसी खुराफ़ाती ने पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति नाम की एक चीज़ ईज़ाद की थी। कहना न होगा कि यह सारी शक्ति इस समय इस लोटे के पक्ष में थी।

लाला झाऊलाल को काटो तो बदन में खून नहीं। ठठेरी बाज़ार ऐसी चलती हुई गली में, ऊंचे तिमंजिले से, भरे हुए लोटे का गिरना हंसी-खेल नहीं है। यह लोटा न जाने किस अनधिकारी के खोपड़े पर काशी-वास का सन्देशा लेकर पहुँचेगा।

कुछ हुआ भी ऐसा ही। गली में जोर का हल्ला उठा। लाला झाऊलाल जब तक दौड़कर नीचे उतरे तब तक एक भारी भीड़ उनके आँगन में घुस आई।

लाला झाऊलाल ने देखा कि इस भीड़ में प्रधान पात्र एक अंगरेज़ है जो नखशिख से भीगा हुआ है और जो अपने एक पैर को हाथ से सहलाता हुआ दूसरे पैर पर नाच रहा है। उसी के पास उस अपराधी लोटे को भी देखकर लाला झाऊलाल जी ने फौरन दो और दो जोड़कर स्थिति को समझ लिया। पूरा विवरण तो उन्हें पीछे प्राप्त हुआ।

हुआ था यह कि गली में गिरने के पूर्व लोटा एक दूकान के सायबान से टकराया। वहाँ टकराकर उस दूकान पर खड़े उस अंगरेज को उसने सांगोपांग स्नान कराया और फिर उसी के बूट पर जा गिरा। ध्यान देने की बात है कि हिन्दुस्तानी लोटा भी आखिर वहीं गिरा जहां हिन्दुस्तानी आदमी गिरते हैं।

उस अंगरेज़ को जब मालूम हुआ कि लाला झाऊलाल ही उस लोटे के मालिक हैं तब उसने केवल एक काम किया। अपने मुंह को उसने खोल-खोल कर खुला छोड़ दिया। लाला झाऊलाल को आज ही यह मालूम हुआ कि अंगरेज़ी भाषा में गालियों का ऐसा प्रकाण्ड कोष है।

इसी समय पं० बिलवासी मिश्र भीड़ को चीरते हुए आंगन में आते दिखाई पड़े। उन्होंने आते ही पहला काम यह किया कि उस अंगरेज़ को छोड़कर और जितने आदमो आंगन में घुस आये थे सबको

निकाल बाहर किया। फिर एक कुर्सी आंगन में रख कर उन्होंने साहब से कहा—"आपके पैर में शायद कुछ चोट आ गई है। आप आराम से कुर्सी पर बैठ जाइये।"

साहब बिलवासी जी को धन्यवाद देते हुए बैठ गए। और लाला झाऊलाल की ओर इशारा करके बोले—"आप इस शख़्स को जानते हैं"! "बिलकुल नहीं। और मैं ऐसे आदमी को जानना भी नहीं चाहता जो निरीह राह चलतों पर लोटे से वार करे।"

'मेरी समझ में He is a dangerous lunatic!' [यानी यह ख़तरनाक पागल है।]

'नहीं मेरी समझ में He is a dangerous criminal!' [नहीं यह ख़तरनाक मुजरिम है।]

परमात्मा ने लाला झाऊलाल की आंखों को इस समय कहीं देखने के साथ खाने की भी शक्ति दे दी होती तो यह निश्चय है कि अब तक बिलवासी जी को वे अपनी आंखों से खा चुके होते। वे कुछ समझ नहीं पाते थे कि बिलवासी जी को इस समय हो क्या गया है।

साहब ने बिलवासी जी से पूछा—'तो अब क्या करना चाहिए?'

'पुलिस में इस मामले की रिपोर्ट कर दीजिए, जिससे यह आदमी फौरन हिरासत में ले लिया जाय।'

'पुलिस-स्टेशन है कहां?'

'पास ही है, चलिये मैं बतलाऊँ।'

'चलिए।'

'अभी चला। आपकी इजाजत हो तो पहले मैं इस लोटे को इस आदमी से ख़रीद लूं। क्यों जो, बेचोगे? मैं पचास रुपये तक इसके दाम दे सकता हूँ।'

लाला झाऊलाल तो चुप रहे पर साहब ने पूछा—'इस रद्दी लोटे का आप पचास रुपये दाम क्यों दे रहे हैं?'

'आप इस लोटे को रद्दी बताते हैं ? आश्चर्य ! मैं तो आपको एक विज्ञ और सुशिक्षित आदमी समझता था।'

'आख़िर बात क्या है कुछ बताइये भी ?'

'यह जनाब ! एक ऐतिहासिक लोटा जान पड़ता है। जान क्या पड़ता है मुझे पूरा विश्वास है यह वह प्रसिद्ध अकबरी लोटा है, जिसकी तलाश में संसार-भर के म्युज़ियम परेशान हैं।'

'यह बात ?'

'जी हां जनाब ! सोलहवीं शताब्दी की बात है। बादशाह हुमायूँ शेरशाह से हारकर भागा था और सिंधु के रेगिस्तान में मारा-मारा फिर रहा था। एक अवसर पर प्यास से उसकी जान निकल रही थी। उस समय एक ब्राह्मण ने इसी लोटे से पानी पिलाकर उसकी जान बचाई थी। हुमायूँ के बाद जब अकबर दिल्लीश्वर हुआ तब उसने उस ब्राह्मण का पता लगाकर उससे इस लोटे को ले लिया और इसके बदले में उसे इसी प्रकार के दस सोने के लोटे प्रदान किये। यह लोटा सम्राट् अकबर को बहुत प्यारा था। इसी से इसका नाम अकबरी लोटा पड़ा। वह बराबर इसी से वज़ू करता था।। सन् ५७ तक इसके शाही घराने में ही रहने का पता है। पर इसके बाद लापता हो गया। कलकत्ते के म्युज़ियम में इसका प्लास्टर का माडल रक्खा हुआ है। पता नहीं यह लोटा इस आदमी के पास कैसे आया ! म्युज़ियम वालों को पता चले तो फैंसी दाम देकर खरीद ले जायँ।'

इस विवरण को सुनते-सुनते साहब की आंखों पर लोभ और आश्चर्य का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे कौड़ी के आकार से बढ़कर पकौड़ी आकार की हो गईं। उसने विलवासी जी से पूछा—'तो आप इस लोटे को लेकर क्या करियेगा ?'

'मुझे पुरानी और ऐतिहासिक चीज़ों के संग्रह करने का शौक है।'

'मुझे भी पुरानी और ऐतिहासिक चीज़ों के संग्रह करने का शौक है। जिस समय यह लोटा मेरे ऊपर गिरा उस समय मैं यही कर

रहा था। उस दुकान पर से पीतल की कुछ पुरानी मूर्तियां ख़रीद रहा था।'

'जो कुछ हो लोटा मैं ही ख़रीदूंगा।'

'वाह आप कैसे ख़रीदेंगे ? मैं ख़रीदूँगा। मेरा हक़ है।'

'हक़ है ?'

'ज़रूर हक़ है। यह बताइये कि उस लोटे के पानी से आपने स्नान किया या मैंने ?'

'आपने।'

'वह आप के पैरों पर गिरा या मेरे ?'

'आपके।'

'अँगूठा उसने आपका भुरता किया या मेरा ?'

'आपका।'

'इसलिये उसे ख़रीदने का हक़ मेरा है।'

'यह सब झोल है। दाम लगाइये, जो अधिक दे वह ले जाय।'

'यही सही। आप उसका पचास रुपया लगा रहे थे, मैं सौ देता हूँ।'

'मैं डेढ़-सौ देता हूँ।'

'मैं दो-सौ देता हूँ।'

'अजी मैं ढाई-सौ देता हूँ।' यह कह विलवासी जी ने ढाई-सौ के नोट लाला झाऊलाल के आगे फेंक दिये।

साहब को भी अब ताव आ गया। उसने कहा—'आप ढाई-सौ देते हैं तो मैं पांच-सौ देता हूं। अब चलिये ?'

विलवासी जी अफ़सोस के साथ अपने रुपये उठाने लगे, मानो अपनी आशाओं की लाश उठा रहे हों। साहब की ओर देखकर उन्होंने कहा—'लोटा आपका हुआ' ले जाइये मेरे पास ढाई-सौ से अधिक है नहीं।'

यह सुनना था कि साहब के चेहरे पर प्रसन्नता की कूँची फिर गई। उसने झपट कर लोटा उठा लिया और बोला—'अब मैं हंसता

हुआ अपने देश लौटूंगा। मेजर डगलस की डींग सुनते-सुनते मेरे कान पक गये थे।'

'मेजर डगलस कौन है?'

'मेजर डगलस मेरे पड़ोसी हैं। पुरानी चीज़ों के संग्रह करने में मेरी-उनको दौड़ रहती है। गत वर्ष वे हिन्दुस्तान आये थे और यहां से 'जहांगीरी अण्डा' ले गये थे।'

'जहाँगीरी अण्डा' जहांगोरी अण्डा। मेजर डगलस ने समझ रक्खा था कि हिन्दुस्तान से वे ही अच्छी चीज़ ले जा सकते हैं?'

'पर जहांगीरी अण्डा है क्या?'

'आप जानते होंगे कि एक कबूतर ने नूरजहां से जहांगीर का प्रेम कराया था। जहांगोर के पूछने पर कि मेरा एक कबूतर तुमने कैसे उड़ जाने दिया, नूरजहां ने उसके दूसरे कबूतर को भी उड़ा बताया था कि ऐसे। उसके इस भोलेपन पर जहांगीर सौ जान से निछावर हो गया, उसी क्षण से उसने अपने को नूरजहां के हाथ बय कर दिया। कबूतर का ऐहसान वह नहीं भूला। उसके एक अण्डे को बड़े जतन से रख छोड़ा। एक बिल्लौर की हांडी में वह उसके सामने सदा टँगा रहता था। बाद में वही अण्डा जहाँगीरी अण्डे के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी को मेजर डगलस ने पारसाल दिल्ली में एक मुसलमान सज्जन से तीन-सौ रुपये में खरीदा।'

'यह बात!'

'हां पर अब वे मेरे आगे दून की नहीं ले सकते। मेरा अकबरी लोटा उनके जहांगीरी अण्डे से भी एक पुश्त पुराना है।'

'इस रिश्ते से तो आपका लोटा उस अण्डे का बाप हुआ।'

साहब ने लाला झाऊलाल को पांच-सौ रुपये देकर अपनी राह ली। लाला झाऊलाल का चेहरा इस समय देखते बनता था। जान पड़ता था कि मुंह पर छः दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी के एक-एक बाल मारे प्रसन्नता के लहरा रहे हैं। उन्होंने पूछा—'बिलवासी जी! आप मेरे

लिये ढाई-सौ रुपया घर से लेकर चले थे? पर आपके पास तो था नहीं।'

'इस भेद को मेरे सिवाय मेरा ईश्वर भी जानता है। आप उसी से पूछ लीजिये। मैं नहीं बताऊँगा।'

'पर आप चले कहां? अभी मुझे आपसे काम है; दो घण्टे तक।'

'दो घण्टे तक?'

'हां और क्या? अभी मैं आपकी पीठ ठोंककर शाबाशी दूंगा; ५० घण्टा इसमें लगेगा फिर गले लगाकर धन्यवाद दूंगा; एक घण्टा इसमें भी लग जायगा।'

अच्छा पहले अपने पांच-सौ रुपये गिनकर सहेज लीजिये।'

रुपया अगर अपना हो तो उसे सहेजना एक ऐसा सुखद और सम्मोहक कार्य है कि मनुष्य उस समय सहज में ही तन्मयता प्राप्त कर लेता है। लाला झाऊलाल ने अपना कार्य समाप्त करके ऊपर देखा। पर विलवासी जी इस बीच अन्तर्द्धान हो गये थे।

वे लम्बे डग मारते हुए गली में चले जा रहे थे।

उस दिन रात्रि में विलवासी जी को देर तक नींद नहीं आई। वे चादर लपेटे चारपाई पर पड़े रहे। एक बजे वे उठे। धीरे से, बहुत धीरे से, अपनी सोई हुई पत्नी के गले से उन्होंने सोने की वह सिकड़ी निकाली जिसमें एक ताली बंधी हुई थी। फिर उसके कमरे में जाकर उन्होंने उस ताली से सन्दूक खोला। उसमें ढाई-सौ के नोट ज्यों के त्यों रख कर उन्होंने उसे बन्द कर दिया। फिर दबे पांव लौटकर ताली को उन्होंने पूर्ववत् अपनी पत्नी के गले में डाल दिया। इसके बाद उन्होंने हंस कर अंगड़ाई ली, अंगड़ाई लेकर लेट रहे, और लेट कर मर गये।

दूसरे दिन सुबह आठ बजे तक वे मरे रहे।

कवि

(मोहनलाल महतो 'वियोगी')

देव, बिहारी, केशव, तुलसी आदि कवियों ने स्वर्ग में पहुँचकर जो सबसे अद्‌भुत कार्य किया, वह था, भारती के द्वार पर सत्याग्रह।

❀ ❀ ❀

देवलोक में खलबली मच गई। स्वयं विधाता पधारे। कवियों को समझाया, पर सब व्यर्थ हुआ। अन्त में सन्ध्या–समय–जिस समय सारा सुरलोक शंख-घंटा-ध्वनि से मुखरित हो रहा था, भगवती वाग्देवी के स्वर्ण-मन्दिर का द्वार–अभागे के भाग्य की तरह–खुला।

कवि-समूह जय-जयकार कर उठा। माता ने शारदीय चन्द्रिका के समान मन्द मुस्कुराकर कहा–'वत्स, तुम लोगों की इच्छा पूरी होगी, पर, भारत का वायुमंडल इस समय कविता के लिए उपयुक्त नहीं है। यदि तुम्हारी एकांत कामना है कि वह अभागा देश फिर कवियों की पावन कविता-गंगा से पवित्र हो जाय, तो, एक बार मैं ऐसा अवसर दूंगी।

भारती की वाणी रुक गई। कवि-समूह मनोवांछित वर प्राप्त कर अपने स्थान को लौट गया।

❀ ❀ ❀

रामघन गुप्त कलकत्ता के एक गन्दे मुहल्ले में रहते हैं। परिवार में ४-५ बच्चे और एक स्त्री है। किसी आफ़िस में क्लर्की करके सौ रुपये महीना पा जाते हैं।

प्रातःकाल उठते ही उन्होंने अपनी पत्नी से कहा-प्रियतमे! अयि मम-मानस-लोक-निवासिनि प्रेम-प्रतिमे! कवि-शिरोमणि, कविता-कामिनी-कान्त कवियों ने जिसके विराट् वैभव को अपने सुमधुर स्वरों में व्यक्त किया है, ऐसे इस जन-मन-रंजन प्रभात के समय का यह

पीताभ शशि, मानो, परकीया नायिका—शर्वरी—के साथ, इच्छापूर्वक विहार कर लेने के बाद—मन्द-मन्द गति से—कलंक-रूप अंजन जावकादि धारण किए, स्वकीया—प्रतीची के यहां जा रहा है। ऊषा सखी व्यंग्य से दीप दिखला रही है। ये नक्षत्र-वृन्द······

पत्नी गुप्तजी की यह लम्बी स्पीच सुनकर अवाक् रह गई। बोली—'तुम यह क्या अनाप-शनाप बक रहे हो? तबीयत तो अच्छी है न?'

गुप्तजी बोलते गये—'शशि के कंठ टूटकर गिरे हुए मुक्ताहार के बिखरे हुए ये मोती हैं। मृदु-मन्द-समीर अधखिली कलियों का चुम्बन कर रहा है। नवोढा-पुष्प-वधू, प्रेमी भ्रमर के साथ अठखेलियां कर रही है। अहा! ये सुनहली किरणें—ये'······

पत्नी ने पति का हाथ पकड़ कर कहा—'तुम्हें मेरी कसम, इस तरह न बको। मैं घबरा गई हूँ। न जाने तुम्हें आज क्या हो गया है!'

पतिदेव बोलते ही गये—'ये गगन-विचुम्बित सौध, एक दूसरे से होड़ करके ऊपर उठते हुए ऐसे जान पड़ते हैं, मानो, वे सभी बालरवि के स्वर्ण-रश्मि-गुम्फित मुकुट धारण करने के लिए व्याकुल हों। अथवा शुभ्र-सौध-समूह-क्षीर सागर की तरंग-माला से—'

पत्नी ने अधीर होकर अपने बड़े लड़के माधव को पुकारा। वह धड़धड़ाता हुआ ऊपर आ पहुँचा। पिता की ऐसी अवस्था देखकर उसे भी चिन्ता हुई। उसने गुप्तजी का हाथ पकड़ कर कहा—'बाबूजी, क्या बोल रहे हैं? मां घबरा रही हैं।'

इस बार रामधन कवि का ध्यान भंग हुआ। पुत्र का माथा सूंघकर, गद्गद् होकर, अधखुली आंखों से उसे देखते हुए, उन्होंने कहा—'वत्स, यद्यपि यह संसार सुख-दुख का क्रीड़ास्थल है, किन्तु मेरे जीवन, आनन्द-जनित जो विस्मृति मुझे तेरे उज्ज्वल रूप को देखकर होती है, उसके सामने वसन्त की अज्ञात पुलकावली का कुछ मूल्य नहीं है और न शारदीय रजनी के निर्मल मुस्कान का। आ मेरे प्राण, तुझे हृदय से चिपका लूं—आ मेरी नैया के कर्णधार।'

पिता के इस सारगर्भित व्याख्यान का—माधव—कुछ अर्थ न समझ सका। उसने माता से कहा—'मां, तुम इन्हें सँभालो, मैं कविराज जी को बुला लाता हूँ।'

कविराज जी अपनी उम्र का सत्तरवां फाटक पार कर चुके थे। सन-सी सफेद दाढ़ी नाभि को चूम रही थी और ललाट पर का सुदीर्घ टीका मरुभूमि की तरह उदास और शीशे की तरह चमकदार था। आप एक चादर ओढ़ कर रामधन को देखने आये। कविराज जी को देखते ही रामधन उनके पैरों पर लम्बायमान हो गया और पुलक-गद्-गद् स्वर में बोला--'हे अनादि युग के ऋषि-कल्प भगवान्! हे याज्ञवल्क-बाल्मीकि आदि तपस्तेज-पुञ्ज-मुनि-प्रवरों की याद दिलाने वाले महा-मुने!! इस अकिंचन की झोपड़ी में-जहाँ न पदार्घ्य है, न आसन--आप किस हेतु पधारे? क्या शारदीय मेघ-खंडों के रथ पर चढ़ कर आप अलकापुरी से कोई नूतन संदेश लेकर आ रहे हैं या पर्वतराज हिमालय की गंभीर गुहा से, अपनी प्रचंड तपस्या की समाप्ति करके, सेवक को अपने पावन दर्शनों से पूत करने के लिये आप पधारे हैं! बोलिए नाथ, बोलिये प्रभो, यह दास आपके चरणों के निकट नतजानु नतमस्तक होकर प्रार्थना कर रहा है।'

लम्बी सांस लेकर कविराज जी ने माधव से कहा—'हा हरि! अच्छा चलो, मैं महानारायण तेल दूंगा। इन्हें ऐसी जगह में रक्खो, जहां हवा न आती हो। ब्राह्मी तथा चन्द्रोदय का सेवन कराना भी बहुत ज़रूरी है।'

कविराज जी चलते बने। दोनों आंखों में आंसू भर कर—आकाश की ओर देखते हुए—रामधन बोला—'स्वप्न की तरह आये और चले गये! हृदय-गंगा के तट पर क्षण-भर खड़े होकर अनन्त में विलीन हो गये। यही संसार का नियम है। अहा, कैसी ज्योति थी। कैसी प्रभा थी!! ऋषि थे, आदि कवि थे। मुझे अपने अमर उपदेशों और पवित्र अनुष्टुप् छन्दों के द्वारा, जीवन-मरण से मुक्त करने आये थे!'

फिर पत्नी की ओर घूमकर रामधन ने कहा—'भद्रे ! इस समय मैं रामगिरि या उज्जयिनी जाना चाहता हूं। पाटलिपुत्र और अँग-बँग-कलिंग आदि के भी पावन दर्शन करने हैं। तरु-पत्रों के श्रवण-सुखद रव में प्रभु मेरा आह्वान कर रहे हैं। ये नव-दल-भार-नम्र, अरुण-राग-रंजित कोमल-किसलय, मेरे हृदय-धन के हाथों की याद दिला रहे हैं। यह विराट् आह्वान है, मूक-निमंत्रण है। वन-विहगम स्वर्ण-पिन्जर में सुखी नहीं रह सकता। उसे मुक्त-पवन में स्वेच्छानुसार विचरण करने और हृदय के तरंगित उच्छ्वास को संगीत के रूप में प्रकट होने दो। आर्ये चम्पक-वरणि सुमुखि, क्षमा करो। ऐसी क्रूरता अच्छी नहीं।'

रामधन उठ खड़ा हुआ और अधखुली आंखों से इधर-उधर देखता मन्द-मन्थर गति से एक ओर चल पड़ा। पत्नी की बाधा उसे रोक न सकी। लाचार वह चिल्ला उठी! मुहल्ले वालों की भीड़ लग गई।

रामधन ने सब को सम्बोधित करके कहा—'अहा विश्वबन्धु, आज मेरे सम्मुख महा-मानव का मेला लगा हुआ है। अनन्त जन-समूह के रूप में मैं अपने प्रियतम के विराट् रूप की झलक देख रहा हूँ। आज मेरा जीवन धन्य हो गया।'

चेथरू तेली बोला—'अरे, यह तो पागल हो गया।'

बेचारा रामधन कवि पकड़कर कोठरी में बन्द कर दिया गया।

❀ ❀ ❀

मां सरस्वती ने कवियों को बुलाया और कहा—'देखो, रामधन हठात् कवि हो गया। उसकी कैसी दशा हुई!'

कवियों ने कहा—'मां, वह विशेष शिक्षित न था। उसका परिवार भी मूर्ख था। इसीलिये उसके साथ क्रूरता की गई। एक बार और अवसर दीजिये।

'तथास्तु' कहकर माँ अन्तर्धान हो गईं।

❀ ❀ ❀

एम० एन० सिंह विख्यात डिप्टी-मैजिस्ट्रेट हैं ! सज़ा करने तथा जुर्माना करके सरकारी कोष भरने की आप सतत चेष्टा किया करते हैं। इजलास पर बैठे-बैठे आप अचानक चौंक उठे और आरोपी के वकील से कहा-'प्रिय बन्धु, इस अनन्त संसार में, चिन्ता-शोकादि के घात-प्रतिघातों को सहते हुए हम काल-यापन करते हैं। यहां और है ही क्या ? एतदर्थ अपराधी को मैं प्रेम से गले लगाता हूँ, तथा उसके साथ गहरी सहानुभूति रखते हुये, उसे घर जाने को कहता हूँ। इन खिले हुए फूलों को देखो और देखो इस मुक्तपवन को। इनके साथ आनन्दोपभोग करने और जी-खोलकर विहार करने का सब को समान अधिकार है। (अपराधी से) प्यारे भाई, तुम्हारे पतन का मुझे विशेष दुःख है। जाओ, घर जाकर अपने चांद के टुकड़े-से बच्चे तथा प्रभात-सी पवित्र पत्नी को गले लगाओ।'

वकीलों की ओर घूमकर आपने कहा-'हे भाइयो, आज मेरा हृदय रविरश्मियों की उज्ज्वल प्रकाश-धारा में नृत्य कर रहा है। चलो इस कमरे के बाहर। अहा ! देखो, पक्षी गा रहे हैं। सुनो, उनके हृदय का मूक-निवेदन।'

सारा न्यायालय दंग रह गया। डिप्टी साहब अपराधी को गले लगाकर रोने लगे !

गोरे जिलाधीश ने मि० सिंह को बुलाकर पूछा-'यह बेकानूनी कार्रवाई क्यों की गई ?'

मि० सिंह ने स्नेह-गद्गद् कंठ से कहा-'हे सखे, इस विराट् विश्व को देखो और देखो संसारके तृषित हृदयको। उसमें वासना की ज्वाला-'

जिलाधीश बीच में ही रोककर बोला-'यह क्या बोल रहे हैं ? मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि ऐसी बेकानूनी कार्रवाई क्यों की गई ? आपको बतलाना होगा !'

आकाश की ओर दोनों हाथ उठाकर मि० सिंह बोले--'न्याय कैसा ? परमात्मा के राज्य में तुम्हें और मुझे न्याय करने का अधिकार

नहीं है। न्याय ? न्याय परमात्मा करता है। देखो उसके राजसिंहासन को। वह हमारे-तुम्हारे—सभी के—हृदय में स्थिर है। चँदोए की भांति उसके सिर पर अनन्त आकाश तना हुआ है। अपने कल-कल स्वर में निर्झर उसकी प्रशंसा के गीत गा रहे हैं। सागर शंखनाद कर रहा है।'

कलक्टर कुछ भी न समझ सका। घबराकर उसने मि० सिंह को समीप बुलाया।

जिलाधीश ने कहा—'मि० सिंह, मैं जानता हूं, आप विद्वान् और अनुभवी शासक हैं। मुझे यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आपके द्वारा न्याय की छीछालेदर हुई है। क्या यह सच है कि आज आपने भयंकर बेकानूनी कार्रवाई की है ?'

मि० सिंह बोले-'बन्धु, आओ तुम्हें हृदय से लगा लूँ। तुम भ्रम-जाल में पड़े हो। मैं नहीं समझता न्याय क्या बला है ! निर्झर के कल-रव में पतितपावनी की तरंग-माला में, चन्द्रमा की अमल-धवल चन्द्रिका में, जो एक विराट् संदेश फूट उठा है, उसके सामने दूसरा न्याय-अन्याय कुछ नहीं है। इस मिथ्या जगत् में नीरस न्याय—'

बेचारा कलक्टर घबरा उठा और बोला—'चुप रहो।'

बलपूर्वक कलक्टर को हृदय से लगाते हुए मि० सिंह स्नेह-विजड़ित स्वर में बोले—'चलो, हम-तुम दोनों प्रकृति के अछोर अंचल में आनन्द से विचरण करें। तितली के साथ लुकाचोरी और श्याम-सजल मेघ-घटाओं के साथ—'

कलक्टर चिल्ला उठा—'ओह ! तुम ज़रूर पागल हो गये हो।'

घंटी बजी और चपरासी ने प्रवेश किया।

❀ ❀ ❀

गंभीर घोष के साथ—स्वर्ग में—भगवती भारती के मन्दिर का द्वार खुला ! माता ने कवियों का आह्वान किया।

मां बोली—'वत्स, मैंने अपना प्रण पूरा किया। रामधन कवि होकर नरकवास कर रहा था। घबराकर उसने आत्महत्या कर ली। उसके स्त्री-बच्चे दाने-दाने को तरस रहे हैं। यह दूसरा कवि आज पागलखाने में बन्द है। बेटा, इस समय भारत को कवियों की आवश्यकता नहीं, यह मैं पहले ही कह चुकी थी। श्मशान में कोयल नहीं, गिद्धों की शोभा होती है।'

कवियों ने माता को प्रणाम किया और क्षमा मांगी।

मां हँसती हुई मन्दिर के भीतर चली गई। द्वार बन्द हो गया। सारा स्वर्गलोक भारती के मुखचन्द्र की हँसी से खिलखिलाकर हँस उठा; पर अभागा भारत अर्थशून्य दृष्टि से आकाश की ओर देखता हुआ सावन-भादों की आंखों से आठ-आठ आंसू रो उठा।

1. भारतीय कवियों के प्रति व्यंग्यात्मक आलोचना।

———

2.

कड़ियां

(अज्ञेय)

प्रभात तो नित्य ही होता है, किन्तु ऐसा प्रभात ! सत्य को जान पड़ रहा है, उसने वर्षों बाद ऐसा प्रभात देखा है—शायद अपने जीवन में पहली बार देखा है। उसमें कोई नूतनता नहीं है—कोई विशेषता नहीं है—और वह चिर-नूतन है अत्यन्त विशिष्ट है···

आज उसे देहली से मेरठ ले जायेंगे; वहां से उसकी कल रिहाई होनी है। सत्य तीन वर्ष से देहली जेल में पड़ा है। उसे कांग्रेस-आन्दोलन के सम्बन्ध में सजा हुई थी--एक सभा का प्रधानत्व ग्रहण करने के लिए। उस दिन से वह यहां बैठा अपने दिन गिन रहा था। और अपनी मशक्कत कर रहा था। उसके लिए प्रभात में कोई विशेषता नहीं होती थी—जेल में प्रभात क्या है ? मशक्कत करने का एक और दिन।

पर आज ! आज वह जेल से निकल कर लारी में बैठा है। वह पुलिस वालों से घिरा हुआ है, पर जेल की दीवारों से बाहर तो है ! वह अभी तक कैदी है, पर कल तो नहीं रहेगा ! और कल···कल उससे कौन-कौन मिलने नहीं आएगा ! तीन वर्ष तक वह अकेला पड़ा रहा है, पर कल ! जो उसे तीन वर्ष से भूले हैं, कल उन्हें याद आएगा कि उनका एक मित्र कभी जेल गया था और अब प्रख्याति पाकर निकला है ! कल वे उसे घेर-घेर कर कहेंगे, तुम्हारे बिना हमारा जीवन निस्सार था। तुम देश के उद्धारकर्त्ताओं में से एक हो—भारत-माता के सुपुत्र ! तुम्हारी देश को बहुत आवश्यकता है। और वह गौरव से कहेगा, अभी मैं और बीस दफे जेल जा सकता हूँ-जाऊंगा। अभी तो मैं कर ही क्या पाया हूँ।

क्योंकि जो कोई नैतिक जुर्म करे वह तो दोषी ही होता है; पर जो राजनैतिक कार्य करे, उसका तो गौरव बढ़ना ही चाहिए···

सत्य प्रभातकालीन सूर्य में यही गौरव का स्वप्न देख रहा है। इसीलिए उसे जान पड़ता है, ऐसा प्रभात कभी नहीं हुआ ! क्योंकि आज तो सूर्य मानो उसी के तेज से चमक रहा है—मानो उसी का पथ आलोकित करने को निकला है।

लारी चली। कोटले के पास से घूमकर वह जमुना के किनारे हो ली। वह सामने बिजलीघर है—अरे, यह कहां तक पानी भर आया है। सुना तो था कि नदी में बाढ़ आई है, पर इतना पानी ! सड़क से कुछ ही दूर रह गया है, तमाम खेत भर रहे हैं, मकई गलकर गिर रही है—बेचारे किसान अपने फूंस के छप्पर उठा-उठा कर सड़क पर ले आए हैं···

हाय ग़रीबी ? देखो, ये लोग कैसे डिब्बों में भरे अचार की तरह भीज रहे हैं—और आस-पास ही इनके पशु खड़े हैं···लड़के-लड़कियाँ रो रही हैं—खाने को नहीं है—और जब कोई भाग्यशालिनी माँ अपनी बच्ची को एक रोटी का टुकड़ा ऐसे लाकर देती है, मानों स्वर्ग की सारी विभूति छीन लाई हो और उसे दे रही हो, तब दूसरे भूखे बच्चों की मुग्ध आँखों के आगे ही कोई कुत्ता आकर उस टुकड़े को छीन ले जाता है। उसमें टुकड़े की रक्षा करने की शक्ति नहीं है—भूखा मानव भूखे कुत्ते से भी कमज़ोर होता है···

पर इनका जीवन कितना सरल होता है। दिन-भर भूखे रहते हैं, दुःख झेलते हैं, रोते-कलपते हैं; किन्तु जब रात को सोने लगते हैं, तब शान्त और सन्तुष्ट ! इनका जीवन कैसा सदा प्रेम से भरा रहता होगा-इनके जीवन में तो एक ही भावना होती होगी—प्रेम की। लोभ, मोह और क्रोध के लिए इसमें स्थान कहां होगा ? और मैं इनकी सेवा करूंगा, इनका स्नेह पाऊँगा···

अब छूटकर इन्हीं पीड़ितों की सेवा करनी है। अबकी ऐसा यत्न करूंगा कि अपने राजनैतिक कार्य के साथ-साथ कुछ समाज-सेवा भी कर सकूं। बाढ़ से इन लोगों को उबारने के लिए चन्दा इकट्ठा करना होगा

लारी तेज गति से चली जा रही है मेरठ की ओर, और सत्य का मन उससे भी तेज गति से चला जा रहा है मेरठ से भी आगे भविष्य की ओर···

यह क्या है ? वह कौन है ?

सत्य देखता है—एक अधेड़ उम्र का आदमी, नंगे-बदन, हाथ में लाठी लिए दौड़ा जा रहा है, और बीच में एक वीभत्स हँसी हँस कर कहता जाता है, "वह पाया ! तेरी···!" और उससे कोई आठ-दस गज़ आगे एक देहाती युवती है—भय, पीड़ा, लज्जा, करुणा और एक अवर्ण्य भावना—एक बलिदान या अभिमान या दोनों की मुद्रा—का एक जीवित पुंज लहंगे की परिमा में सिमट कर भागा जा रहा है। भागा जा रहा है जान लेकर। ओढ़नी का पता-नहीं है, बाल खुले हुए हैं, बड़ी-बड़ी आंखें फटी जा रही हैं—भूखा शरीर पता नहीं कैसे लहँगे के बोझ को संभाले हुए है—जब वह उछलती है, तो लहँगा कुछ उठ जाता है घुटने तक उसकी टांगें दीख जाती हैं। टांगें भी पतली, बरसों की भूखी और पैर में चांदी के कड़ों के नीचे खून लग रहा है, पर वे थमते नहीं—ज़मीन पर भी टिकते नहीं, शिकार और शिकारी का अन्तर कम नहीं होता···

लारी उस युवती से आगे निकल गई है—सत्य गर्दन झुकाकर देख रहा है···

यह क्या लाठी फेंकेगा ? वह औरत है, या दानवी ? एक उछाल-सत्य ने देखा, अबकी बार क्षण भर के लिए घुटनों से भी बहुत ऊपर तक लहंगा उठ गया है—वह कूद पड़ी है जमुना की बाढ़ में · वह गिरी—ओफ़ ! यह तो कांटों की एक बड़ी झाड़ी में गिरी और धँस गई—जब तक निकलने की चेष्टा करेगी, तब तक पानी में और कीच में डूब जायगी। कैसी—घुट-घुट कर और कांटे···

पर अब कुछ नहीं दीखता। लारी बहुत आगे निकल आई है ! केवल लारी के पहियों से उठी हुई धूल और सरकंडे के झुरमुट। और

लम्बे-लम्बे घने झाऊ। और कहीं-कहीं थोड़े से नरसल। और एक अर्जुन के पेड़ पर से उड़ा जा रहा नीलकण्ठ और जमुना का प्रवाह—एक साथ ही क्षुद्र और गम्भीर, प्रशान्त और उद्वेगपूर्ण।

लारी जमुना को पार कर रही है।

कहां गया वह उत्साह ? कहां गया वह प्रभात का सौन्दर्य ? कहाँ गई वह तीन वर्षों के बाद छूटने की उत्तेजना ?

सत्य निष्प्रभ-सा लारी में बैठा है। उसकी तनी हुई शिराएँ धीरे-धीरे ढीली पड़ रही हैं, और साथ-ही-साथ उसकी उत्तेजना और उसके उल्लास भी ठण्डे होते जा रहे हैं। जिस गौरव-पूर्ण सार्वजनिक जीवन की उसने कल्पना की थी, उसमें इसके लिए स्थान नहीं था--इस अनियंत्रित उन्माद के लिए—इस विशेष प्रकार की पीड़ा के लिए। और सबसे बढ़कर इस भयंकर निस्सहायता के लिए, जिसका उसने आज लारी में बैठे-बैठे अनुभव किया, जिसके कारण उसे वह रोमांचकारी दृश्य देखना पड़ा···

वह कौन था ? वह कौन थी ? वह क्या था ? सत्य इन प्रश्नों पर अपनी बुद्धि की कुल शक्ति खर्च कर चुका है···पर उसकी समझ में कुछ नहीं आया। और जब तक वह समझ नहीं लेगा, उसे चैन नहीं मिलेगा···

नशा उतर गया है, उल्लास बैठ गया है, उत्तेजना ठण्डी पड़ गई है; पर नशे के बाद बदन टूटता है, उल्लास के बाद थकान आती है, उत्तेजना के बाद मूर्छना। सत्य के हाथ बहुत थोड़े-थोड़े कांप रहे हैं, उसका मन उद्वेग से भर रहा है।

वह जो मैंने देखा, वह क्या हो रहा था ? उसका और उसका क्या सम्बन्ध था ? उस आदमी का मुंह जिस भाव से विकृत हो रहा था, वह क्रोध की ज्वाला थी या वासना की; वह उसके शरीर पर अपनी क्रोधाग्नि शान्त करना चाहता था, कामाग्नि ? क्यों ? वह कुमारी थी, या विवाहिता ? (विधवा तो नहीं थी···)

जासूसों के संशयों की भांति अनेक चल-चित्र सत्य के सामने से एक-एक करके जा रहे थे। वह उसकी स्त्री है, वह सती है, पर उसका पति उस पर सन्देह करता है। नहीं वह, वह असती है, और पकड़ी गई है। वह किसी और की स्त्री है, और उसके पास प्रेम का प्रस्ताव लिए आई है यह धमका रहा है। वह अविवाहित है यह उसका प्रेमी है; उसने विश्वासघात किया है, यह बदला ले रहा है। वह उसे प्रेम नहीं करती, यह ईर्ष्या करता है...

नहीं, उसका दोष नहीं है। उसका पिता उसकी शादी और कहीं करना चाहता है, वह आज्ञा मान लेती है, इसलिए उसे क्रोध आ गया है। तभी तो उस लड़की के मुख पर ऐसा विचित्र भाव था—जिसमें साथ ही भय और करुणा, ग्लानि और पीड़ा; और वह बलिदान और अभिमान का सम्मिश्रण हो रहा था।

यह तो तब भी हो सकता है, यदि वह बिल्कुल अबोध बाला ही हो, प्रेम-व्यापार से अपरिचित और वह कामी अपनी वासना की तृप्ति के लिए उसे अकेली पाकर पकड़ने दौड़ा है। यह भी हो सकता है—उसके मुख पर जो हिंस्र भाव था, वह क्रोध भी हो सकता है और उग्र, दीप्त कामलिप्सा भी। और उस लड़की का...

उसका मुख, वह फटी-फटी-सी आंखें...

सत्य अपनी आंखें मूंदकर उस दृश्य का पुनर्निर्माण करने का यत्न करता है। पर कल्पना में उसे उस लड़की का मुख क्यों नहीं दीखता। वह सामने जमुना का बढ़ा हुआ गँदला पानी—वह सरकण्डों के झुरमुट—ये कँटीली झाड़ियां—वह पीछे लाठी लिए दौड़ा आ रहा है—वह कूदी—उसके अस्त-व्यस्त कपड़े और बिखरे बाल—उड़ता हुआ लहँगा—सब कुछ दीखता है, पर मुख क्यों नहीं याद आता। सत्य खीझकर आंखें खोलता है, फिर बन्द करके केवल उसके मुख पर ध्यान केन्द्रित करता है। पर वहां तो शून्य ही शून्य दीखता है, मुख नहीं। वह प्रकम्पित चोली, वह लंहगा—

नहीं, लँहगा-वँहगा कुछ नहीं सोचूँगा! वह मुख।

सत्य फिर चेष्टा करता है। उसके लिए वह बहुत धीमे में उस मुख की एक-एक विशेषता का वर्णन करता है, और उसे ध्यानावस्थित करके उसे मूर्त आकार देने की चेष्टा करता है।

बिखरे हुए केश, रंग—न साँवला, न गोरा, कुछ साँवलेपन की ओर अधिक; गठन न सुन्दर, न कुरूप; किन्तु एक अनिर्वचनीय लुनाई लिये हुए; भवें—मानों एक दूसरे को छूने के लिये बांहें फैला रही हों; आंखें—आंखें तो सोची ही जा सकती हैं; शब्दों में बंध नहीं सकतीं, नाक—छोटी, सीधी, ओठ खुले, निचला ओठ कुछ भरा हुआ, कोने खिंचे और कुछ नीचे झुके हुए, कोने के पास क्या तिल और ठोड़ी—

ख़ाक-धूल! सत्य कल्पना-क्षेत्र तो वैसा ही शून्य है! वह उसके मुख के एक-एक अंग की एक-एक खूबी का बखूबी वर्णन कर सकता है; पर उसके मूर्त चित्रण में उसकी कल्पना-शक्ति जवाब देती जाती है।

वह झुंझलाकर सोचता है, इस विषय को भुला दूंगा। वह मुँह फेर कर सड़क पर भागती हुई लारी के इञ्जिन के बानेट (शीर्ष) पर लगे हुए गरुड़ चिह्न की ओर देखने लगता है, वह पीतल का गरुड़ पर फैलाए ऐसा सन्नद्ध खड़ा है, जैसे किसी शिकार पर झपट पड़ने की क्रिया में ही रुक गया हो।

या, जैसे वह स्त्री बाढ़ के पानी में अधडूबी झाड़ी में कूदते समय थी—सना हुआ शरीर, फैले हुए डैने की तरह लँहगा, नंगी टांग··········

छिः!

मानों संसार में उन नंगी टांगों के अतिरिक्त कुछ रह ही न गया हो—क्यों बार-बार मेरी दृष्टि के आगे वे ही आ जाती हैं? क्या इन दो-तीन वर्षों के दूषित वातावरण ने मेरे मन को भ्रष्ट, पतित, व्यभिचारी बना दिया है? मेरे मन को, जिसे अभी अपने देश का इतना काम करना है। जो भारतमाता का सुपुत्र होने का दावा करता है?

और सत्य का—भारतमाता के सुपुत्र-सत्य का—ढीठ मन फिर भागा। अब की बार बड़ी दूर। सैकड़ों मीलों की मंजिल मार कर, सैकड़ों दिनों का व्यवधान पार कर। तब, जब सत्य ने नया-नया बी॰ ए॰ पास किया था और छुट्टियों के लिए काश्मीर जा रहा था। और किस सम्बन्ध से वह इतनी दूर भागा, यह वही जाने। सत्य तो नहीं जानता—इस पर ध्यान देने की अभी फुरसत भी कहां! वह तो अभी कुछ और ही दृश्य देख रहा है। वह नहीं देख रहा, दृश्य स्वयं ही बाढ़ की तरह उमड़ता हुआ उसकी चेतना को परिप्लावित कर रहा है।

(३)

मुज़फ्फराबाद की तलहटी में, दोपहर।

झेलम और कृष्णगंगा दोनों में ही बाढ़ आई है। दोनों के ही पुल खतरे में हैं। जो लोग ऐबटाबाद से काश्मीर आते हैं, वे यहीं पर दोनों नदियाँ पार करते हैं; किन्तु पुल खतरे में होने के कारण आजकल लारियां उन्हें पार नहीं कर सकतीं, इसलिये ऐबटाबाद से आने वाले यात्री दोनों पुल पैदल पार करते हैं और दुमेल में दूसरी लारियों में बैठ कर जाते हैं। और जो लारियाँ कोहाला होकर आती हैं, वे इन यात्रियों के लेने के लिए दुमेल में रुकी रहती है।

सत्य जिस लारी में आया है, वह रात को दुमेल पहुंची थी और एक दिन दुमेल में ही प्रतीक्षा में रुकेगी। सत्य को कोई जल्दी नहीं थी, इसलिए वह इस प्रोग्राम का विरोध नहीं कर रहा है।

वह रात ही को अपनी छोटी दूरबीन, दो-तीन कम्बल, कमीज़ निकर और तौलिया लेकर दुमेल में झेलम का पुल पार करके दोनों नदियों के संगमस्थल के ऊपर त्रिकोण में बसी हुई बस्ती मुज़फ्फराबाद में घुस गया था। उसे आशा थी कहीं रात काटने का प्रबन्ध हो जाएगा। जब उसे निराशा हुई, तब वह सड़क पर से नीचे उतर कर कृष्ण गंगा के तट पर पहुँचा। वहीं वह बिस्तर लगाने के योग्य कोई

स्थान ढूँढ रहा था, तो उसने देखा, वहाँ से कुछ ही दूर पर एक छोटे-से सोते के पास जिसमें किसी वन्य-वृक्ष की आगे से निकली हुई छाख पर से होकर मोतियों की लड़ी-सी पानी की धार आ रही थी, दो-चार बड़ी-बड़ी सिलें जोड़ कर एक चबूतरा-सा बनाया गया था। उसने मन-ही-मन सोचा, 'मुसलमानों की पाकगाह,' और उस पर कँबल बिछा-कर पड़ गया।

वह थी कल की बात। सुबह वह उठा, तो देखा, उस झरने पर कई स्त्रियां पानी भरने के लिए जमा हो रही हैं। उसे उठा देखकर उन्होंने लम्बे-लम्बे घूंघट तान लिए। सत्य थोड़ी देर उन्हें देखता रहा, फिर उठकर, घूमने लगा और आस-पास लगी हुई जंगली स्ट्राबरी बीन बीन कर खाने लगा···

अब तीसरे पहर वह दोबारा सो कर उठा है। जंगली अखरोट के पेड़ों से छनकर आती हुई धूप में दोपहर-भर सोने से उसके शरीर में एक अपूर्व मस्ती छा गई है। वह उठकर नदी के किनारे पर बैठा है और नहाने का निश्चय करके भी आलस किए जा रहा है—वह मस्ती इतनी मधुर मालूम हो रही है···

सत्य जहाँ बैठा है, वहाँ से कृष्णगंगा के श्याम और झेलम के मटमैले पानी का संगम दीख पड़ता है। कृष्णगंगा के परली पार सत्य देख रहा है, पाँच-सात गूजरियाँ क्रीड़ा कर रही हैं। सत्य को उनके मुख स्पष्ट नहीं दीखते; पर फिर भी वह उन्हें अच्छी तरह देख सकता है।

सत्य कपड़े उतार चुका है और पानी में घुस गया है। वह किनारे के पास ही जल में बैठ गया है, उसका सिर-भर पानी के बाहर है। दूसरे श्यामल पानी में शायद वह बिल्कुल ही अदृश्य हो जाय।

गूजरियाँ भी नहाने की तैयारी कर रही हैं। उन्होंने परस्पर हँसी करते-करते कपड़े उतार फेंके हैं, और रेत पर लेटी हुई धूप सक रही हैं।

सत्य पानी में बैठा हुआ उन्हें देख रहा है। वह अपना स्नान भूल गया है, किनारे से दूरबीन उठाकर देख रहा है, उसे क्षीण-सा ज्ञान है कि वह अच्छा नहीं कर रहा है, पर साथ ही यह विचार उसे प्रोत्साहन दे रहा है कि वह परलोक से नहीं देखता। और फिर जब वे खुले-आम नहा रही हैं, तो अनेक लोग उन्हें देख रहे होंगे, वह अकेला थोड़े ही है ?

सत्य तू कब तक ऐसा बैठा रहेगा। अपने जीवन की जिन दबी हुई शक्तियों को तू आज उन्मुक्त कर रहा है, वे कहीं तुझे ही न कुचल डालें...

ऊँह वह देखो, गूजरियों के दो छोटी-छोटी लड़कियां हैं, कितने तीव्र स्वर से हँस रही हैं। सत्य को जान पड़ता है, या भ्रम होता है कि वह नदी के प्रवाह मर्मर के ऊपर उस तीखे स्वर को सुन सकता है।

वह एक युवती उठकर चट्टान पर खड़ी हुई है और सूर्य की ओर उन्मुख होकर अङ्गड़ाई ले रही है। मानो कोई वन-सुन्दरी सूर्य को ललकार रही है—तू सुन्दर है या मैं ? उसने कन्धे पर अपना पैरहन रखा हुआ है, जिसके मुकाबले में उसका शरीर बहुत गोरा जान पड़ रहा है।

बहुत देख लिया। वे शक्तियां तुझे नहीं छोड़ेंगी। तेरी मानवता पुकार रही है—तेरी दासता-बद्ध स्वाभाविक कामनाएं अत्यधिक नियंत्रण के कारण और अधिक बलवती होकर फूट निकली हैं। तू सँभल-इस अपूर्व उत्तेजना को दबा डाल।

और यह सोचते-सोचते उसने दूरबीन किनारे पर रखी, एक लम्बी सांस ली और फिर गोता लगा गया। जब उसका सिर पानी से बाहर निकला, तब आधी से अधिक नदी पार कर आया था। उसने पानी में उछलकर सांस ली। उसकी आंखों ने तब तक वह चट्टान खोज ली......

वह चौंकी-उसके ओठ कुछ खुलकर फिर एक भय और विस्मय की चीख को पी गए-उसका मुख क्षण-ही भर में भय, लज्जा, शायद पीड़ा और एक साथ ही कोमल और कठोर अभिमान की छाया दिखा गया। उसी क्षण में उसने हाथ ऊपर उठाये और एड़ियों पर सध गई। अगले क्षण सत्य ने देखा, मानों एक बड़ा-सा काला गरुड़ अपने डैने फैलाए उस चट्टान पर मंडरा रहा है—वह युवती पानी में कूद पड़ी है और बैठ गई है और उसका काला पैरहन पानी पर तैर रहा है। और उसी क्षण में सत्य झेंपा हुआ, लज्जित; पानी में ही पसीना आ रहा है।

सत्य लड़खड़ाकर गिरा। सैकड़ों मील का व्यवधान पार करता हुआ—मुज़फ्फराबाद से मेरठ······

सत्य, भारतमाता का सुपुत्र, आवेश में आकर लारी में ही खड़ा हो गया है। पुलिसवाले चौंककर उसकी ओर देखते हैं। वह घोर लज्जा का अनुभव कर रहा है—उसके माथे पर पसीना आ गया है।

और जिस चेहरे की कल्पना करने की चेष्टा में उसने इतनी शक्ति लगा दी थी, इतनी शक्ति लगा कर भी असफल रहा था, वह उसके सामने नाच रहा है। एक अकेला नहीं, हजारों। सत्य को देख पड़नेवाला कुल वायुमण्डल ही सहस्रों वैसे चेहरों से भर गया है—वही बिखरे केश, मिलती भंवें, अनुपम आंखें, भरे ओठ, वही विचित्र मुद्रा, भय, लज्जा, पीड़ा करुणा, ग्लानि। वह कोमल या कठोर बलिदान वा अभिमान।

यह सब उसकी उत्तेजना की उठान में नहीं, किन्तु तब, जब भारत माता का सुपुत्र आत्म-ग्लानि का पुंज बनकर बैठ गया है।

जिस चीज़ को मैं समझता था कि मैंने अपने आदर्श जीवन में भुला दिया है, वह अभी तक मेरे भीतर इतने उग्र रूप में विद्यमान है, भारतमाता के सुपुत्र ! देश के उद्धारकर्ता ! छिः छिः !

छिः !

(४)

रिहा तो हर हालत में होना ही था, किन्तु सत्य जिस सुख और गौरव की कल्पना कर रहा था; उसका अणुमात्र भी उसे प्राप्त नहीं हुआ। जब भीड़ की भीड़ उसे लेने आई, जब उसके इष्टमित्र जो तीन वर्ष तक उसकी स्मृति को हृदय में छिपाए बैठे थे उसे बढ़ावा देते हुए खींचकर ले गए और लारी में बिठाकर देहली चलने को हुए—उसके नाम के नारे लगाते हुए—तब सत्य को ऐसा प्रतीत हुआ, वह बच नहीं सकेगा, लज्जा से वहीं धंस जायगा। उसके जी में आया चिल्लाकर कहूं,—मैं अत्यन्त नीच, घृणित, पतित हूँ; मुझे धक्के दे-देकर निकालो—नहीं, फिर वापस जेल भेज दो। मैं उसी योग्य हूं। उसे जान पड़ा, अगर यह नहीं कहूँगा, तो जल जाऊँगा ज्वालामुखी की तरह फट पड़ूँगा।

पर उसने कहा नहीं। उसके मुँह से बोल नहीं निकला केवल जब किसी ने पूछा—'आपको अभी से देश की चिन्ता लग गई।' और सत्य ने देखा कि पूछने वाले की मुद्रा में व्यंग नहीं, श्रद्धा-का-सा भाव है, तब उसने क्रोध की पराकाष्ठा में, उसी को छिपाने के लिए, जैसा भी सूझा अच्छा, बुरा, भद्दा, मज़ाक करना शुरू किया, और फिर ऐसा चला कि बस, रुकने में ही नहीं आया।

पर जमुना के पुल के पास पहुँचते-पहुँचते वही हाल। सत्य चुप-गुमसुम। लोग बात करते हैं-तो उत्तर नदारद—मानो सुना ही नहीं।

पुल पार करते ही सत्य ने कहा,'लारी रुकवाओ,उतरूंगा।' दोस्तों ने विस्मित होकर कारण पूछा, तो किसी से इधर मिलने जाना है। शाम तक, काम नहीं रुक सकता।

कोई साथ चले ? नहीं, अकेले जायँगे। प्राइवेट काम है।

लीडर के सौ खून माफ। सत्य को उतार कर लारी आगे बढ़ी। सत्य जल्दी-जल्दी बेला रोड पर चलने लगा। न-जाने किस आशा में, उसने इस पर स्वयं कोई विचार नहीं किया था। वह चलता जा रहा

था और उसकी आंखें आस-पास किसी परिचित चिह्न की तलाश में फिरती थीं।

ये रहे नरसल—और वह रहा झाऊ—वह सामने सरकण्डे का झुरमुट—मकई का कहीं नाम निशान तक नहीं दीख पड़ता, वह तो बिलकुल बैठ गई है। अब तक तो सड़ गई होगी! और यह—

सत्य ठिठक गया।

यह सामने वही कँटीली झाड़ी है। आस-पास कहीं कोई नहीं दीख पड़ता। दूर पर फूंस के छप्पर पड़े हैं, पर उनके पास-पड़ोस में कोई मानवी आकार नहीं दीखता। क्या करूं? उतर कर देखूं झाड़ी में क्या है? अगर कुछ होता भी, तो अब कौन छोड़ेगा? शायद खून के कतरे—

नहीं, कुछ नहीं है। स्वप्न भले ही आज देखे हों, दिन में उसका धुँआ भी नज़र नहीं आता।

सत्य बैठा है। संसार अपनी अभ्यस्त गति से चला जा रहा है,पर सत्य के लिये नहीं। उसके लिए सृष्टि मर चुकी है। अब रह गया है वह और एक वायदा। एक वायदा जो कि पूरा नहीं हुआ। न होगा। न हो सकता है। वह अब वैसा ही है, जैसे कोई प्रेमिका मिलने का वचन देकर घर गई हो और उसका अभिसारी प्रतीक्षा में बैठा रहे। दिन, महीनों, बरसों नहीं, अन्तकाल तक प्रतीक्षा में बैठा रहे--दिन ढल गया है, जमुना का गंदला पानी सांध्यधूप में तांबे-सा दीख पड़ता है, और नरसल ऐसे, जैसे तांबे को जंग लग गया हो; हवा चलने लगी है, और उससे पानी के वृद्धिगत होते हुए घर्र-घर्र शब्द के साथ ही नरसल और झाऊ की दर्द-भरी सरसराहट मिल गई है; दूर कहीं से पक्षियों के रव से न छिप सकने वाली पड़कुलिया की पुकार कह रही है, 'तूही-तू!'—पर इस परिवर्तन में सत्य का संसार अपरिवर्तित खड़ा है—पत्थर पर खिंचे हुए चित्र की तरह जड़!

वह जो बुड्ढा चला आ रहा है, सत्य ने उसे नहीं देखा, पर वह सत्य की ओर आ रहा है। उसकी मुद्रा से जान पड़ता है, बात करना चाहता है।

'बाबू जी, यहां क्या कर रहे हो?'

सत्य ने चौंककर कहा, 'क्यों?'

'बाबू जी, यहां मत बैठो, यह जगह अच्छी नहीं है।'

'क्यों?'

'क्या बताएँ बाबू जी, यहां तो कल ही गांव के नाम को बट्टा लग चुका था।'

सत्य जानता था कि यह भ्रम है; पर उसे मालूम हुआ, पानी से एक पुकार उठ रही है—'हाय मोहे बचइयो।' वह संभलकर बैठ गया, और बोला क्या बात हुई?'

'बात कुछ नहीं खेत के बारे में कुछ झगड़ा हो गया था, उसी से लड़ाई हो गई—'

'सो कैसे?'

बुड्ढे ने खँखार कर पूछा, 'बाबू जी, आप तमाखू पीते हैं?' और जवाब पाकर थोड़ी देर चुप रहकर कहने लगा, "हमारे गांव में एक ही बड़े किसान हैं, बाकी हम सब लोग तो गरीब लोग हैं। ये आस-पास के सब खेत उनके ही हैं। हमारे तो कहीं एक-आध खेत होगा। जब बाढ़ आई तो हम सब अपने छप्पर यहाँ सड़क पर ले आये। एक गरीब घर का छप्पर भी बह गया था। वे रात-भर भीगते बैठे रहे थे। उनके घर में एक लड़का बेराम था। उसकी मां रोती थी। बाप तो काम को गया हुआ था। घर में मर्द कोई था नहीं। एक अकेली बहू थी—उससे यह रोना देखा नहीं गया। वह सास से बोली मैं थोड़े झाऊ और नरसल ले आती हूं, बच्चे के लिए छपरिया छा लेंगे। वह उठ कर—'

तो और किसी ने उन्हें जगह नहीं दी?'

'और कहाँ से देते ! वे सब तो आप भीग रहे थे—छप्परों में जगह कहां थी ? हां तो वह हंसुई लेकर चल दी। पता नहीं, किधर गई। हमने थोड़ी देर बाद सुना कि उसकी चौधरी के बेटे से रार हो गई है। वह पूछ रहा है कि मेरे खेत से मकई काट रही है ? तो यह जवाब देती है कि मैं नरसल काटने आई हूँ। वह गाली देता है कि साली झूठ बोलती है तो कहता है कि ज़बान सँभाल कर बात करो। वह और गाली देता है, तो वह माँ बहिन की याद दिला देती है।'

'पर मकई तो वैसे ही गल गई, काम तो आती नह —?'

'बाबू जी, अपनी चीज़ सड़े तो गले तो, अपनी ही है।'

'पर—'कहकर सत्य चुप हो गया। बुड्ढा फिर कहने लगा—हां तो, थोड़ी देर में दोनों चुप हो गए—हम सोचते रहे कि क्या हुआ है। तब बहू लौट आई—थोड़े से नरसल काट लाई थी—उसमें दो-चार पौधे शायद मकई के भी थे।'

'फिर ?'

'हमने बहू की सास से कहा कि उसे समझा दे, गांव के चौधरी से रार करना अच्छा नहीं होता। बहू कुछ नहीं बोली। घूंघट काढ़कर छपरिया छाने बैठ गई। हमने समझा बात ख़तम हो गई है।'

'फिर ?'

'तब भोर होने वाला था। बरसात बन्द हो चुकी थी। धूप निकल आई, तब हम बाहर निकल कर बदन सुखाने लगे। पर वे सास-बहू बैठी रहीं—बहू अभी तक अपना काम किए जा रही थी। तभी हमने सुना, सास बड़े जोर से चीख पड़ी ! वह बच्चा एक बार छटपटा कर मर गया था…।'

'हम धीरे-धीरे उसके पास गए कि समझाएँ दिलासा दें। बहू ने काम करना बन्द कर दिया; सन्न-सी वहीं बैठ रही। हम भी कुछ कह नहीं पाये थे, अभी चुप ही थे कि चौधरी का बेटा एक लाठी लिए आया और उसे देखकर बोला—'क्यों री ! तू ही चुराकर लाई थी

मकई ?' और कहते-कहते लाठी से उसकी बनाई हुई अधूरी छपरिया को बिखेर दिया। उसमें एक-आध पौधा मकई का दीख पड़ा, तो लाठी से बहू को ढकेलते हुए बोला—'अब क्यों नहीं बोल निकलता ?' और गन्दी गाली दी। तब बहू ने घूंघट हटा दिया और बोली 'चौधरी, अपना काम करो, ग़रीबों को सताना अच्छा नहीं।'

'चौधरी और भी गर्म हुआ। गालियाँ देने लगा और एक लाठी भी बहू की टांग में जमा दी। बहू हमारी ओर देखकर बोली, 'तुम लोग देखते नहीं हो ?' पर हम सब ऐसे घबरा गए थे कि हिल-डुल भी नहीं सके, बोले भी नहीं। इतनी देर में उसने एक लाठी और मारी। बहू हटकर बची तो, पर उसके पैर में चोट लगी। तब वह भागी और चौधरी उसके पीछे-पीछे।'

'फिर ?'

'हम वहीं बैठे रह गए—फिर क्या हुआ, हमने नहीं देखा—' सत्य को ऐसा हुआ, कहूं, 'मैंने देखा !' मैंने देखा।' पर वह चुपचाप सुनता रहा।

'जब हमने फिर देखा, तो चौधरी इसी जगह खड़ा था। और वह वहीं झाड़ी में डूब रही थी। हमने मिलकर उसे निकाला, वह बेहोश थी। उसके कई जगह चोटें थीं, खून बह रहा था।'

'फिर ?'

'फिर उसे अस्पताल में ले गए वहां पड़ी है। अभी तक होश नहीं आया। बचेगी नहीं।'

बुड्ढा चुप हो गया। थोड़ी देर बाद सत्य ने पूछा—'और चौधरी ?'

'चौधरी क्या ?' प्रश्न में ऐसा विस्मय था, मानो सत्य का प्रश्न उठ ही नहीं सकता—उसका उत्तर इतना स्वतः सिद्ध है। हाँ, चौधरी क्या ! चौधरी कुछ नहीं। वह तो चौधरी है ही।'

बहुत देर मौन रहा। बुड्ढे ने देखा, सत्य चुप है, न जाने किस विचार में लीन है। वह निराश-सा होकर वृद्धों के प्रति संसार की उपेक्षा का विचार करके चला गया :

सूर्यास्त हो गया। अँधेरा हो गया। तारे निकल आए। पक्षियों का रव बन्द हो गया। पानी की घरघराहटें और गम्भीर हो गई। पर सत्य का पत्थर में खिंचा हुआ संसार नहीं पिघला, नहीं पिघला।

एक पत्थर का बुलबुला था ठोस, अपरिवर्तित, मुर्दा। किन्तु बुलबुला होने के कारण वह जीवन की निरन्तर परिवर्त्तन-शीलता, विचित्रता, रंगीनी और क्षुद्र नश्वरता का द्योतक बना रहता था। वह चिन्ह था अनुभूति का, प्रेम का; उत्साह का, किन्तु उसकी वास्तविकता थी छलना, वेदना, वज्र कठोरता, मानव के जीवन का नंगापन······

वह बुलबुला फूट गया है, इसलिए उसका भेद खुल गया है। सत्य भी देख सकता है कि वह जीवन का सौन्दर्य नहीं, उसके पीछे निहित कठोरता है, वह पत्थर है, जो नहीं पिघलेगा, नहीं पिघलेगा।

(५)

कहानी जीवन की प्रतिच्छाया है, और जीवन स्वयं एक अधूरी कहानी है, अधूरी कहानियों का संग्रह है, एक शिक्षा है, जो आयु-भर मिलती रहती है और समाप्त नहीं होती। हमारी कहानी का भी सच्चा अन्त तो यह है। मुज़फ्फराबाद वाली बात भी अधूरी, जमुना किनारे की बात भी अधूरी, जीवन ही अधूरा रह गया है। पर, जिस प्रकार किसी लेखक की मृत्यु के बाद छपी हुई अधूरी कहानियों को पढ़ कर भी उसके जीवन की प्रगति का एक पूरा चित्र खींचा जा सकता है; उसी प्रकार संसार की अपूर्ण विशालता में, विशाल अपूर्णता में भी एक साथ मिलता, एक प्रवाह, एक किसी निश्चित, परिपूर्ण फलन की ओर अग्रसर होती हुई अचूक प्रगति···

सत्य का स्वप्न बिखर गया है। उसकी दबी हुई कामनाएँ और लिप्साएँ दबी ही रह गई हैं। सत्य की बुद्धि ने उन्हें बाँधकर कुएल डाला है, फूटने नहीं दिया। पर उन्होंने भीतर-ही-भीतर फैलकर सत्य की मानसिक प्रयोगशाला में न जाने कौन-कौन से अभूतपूर्व रसायन तैयार किए हैं, और वे रसायन न जाने किन-किन शक्तियों से लदे हैं, सत्य को किधर ढकेल ले जायंगे ! उसके कौन-कौन से आदर्श तोड़ेंगे उसकी मेहनत से संचित की हुई, या दबाई हुई किन-किन गुप्त स्मृतियों को उखाड़ फेकेंगे, नंगा कर देंगे। उसकी किन-किन सदभिलाषाओं, उच्चतम आकांक्षाओं, उत्सर्ग-चेष्टाओं की व्युत्पत्ति पतित से पतित, गर्हित से गर्हित; जघन्यतम धातुओं से सिद्ध कर देंगे। प्रेम-जीवन के किस-किस कमल का उद्भव वासना-सर के किस गँदले कीच से कराएँगे ··

और यह सारी विराट् क्रिया मानव के लिये एक अपूर्णता ही रह जायगी, जिसे वह समझ कर भी नहीं समझेगा। वह इसकी Continuity को नहीं समझ पाएगा। जैसे आक्सीजन और हाइड्रोजन को मिला कर जलाएँ—एक धड़ाका होता है और हम देखते हैं, न आक्सीजन है, न हाईड्रोजन। उसे हम विस्फोट कहते हैं। पानी बनने की इस क्रिया में हम उसकी अनिवार्य Continuity नहीं देखते—हम यही समझते हैं कि दोनों गैसों का जीवन अधूरा रह गया—एक विस्फोट में उलझकर खो गया।

ऐसा ही विस्फोट सत्य के जीवन में भी हुआ; पर हमारी कहानी का वह अंग नहीं है, क्योंकि हमारी कहानी की सम्पूर्णता विस्फोट के पूर्व के इस अधूरेपन में ही है। उस विस्फोट का इस प्रारम्भ से कोई सम्बन्ध नहीं था, फिर भी जीवन को विशाल असम्बद्धता में वे दोनों एक ही क्रिया की दो अभिन्न कलाएँ थी।

इस घटना के दो वर्ष बाद सत्य की मृत्यु हो गई। मृत्यु नहीं हुई, हत्या हुई। संयुक्तप्रान्त में जो किसान-विद्रोह हुआ, उसके अपीड़ित, अज्ञात, नाम से घबराने वाले, बल्कि नाम-हीन अगुओं में से सत्य भी

एक था। उसी सिलसिले में एक गांव में 'शान्ति-स्थापना' के समय पुलिस के हाथों गोली लगकर वह मर गया। किसी ने यह भी नहीं जाना कि भारतमाता के उस सुपुत्र का समाधिस्थल कहां रहा।

यह भी अपूर्ण कहानी है। किन्तु इन टूटी-फूटी कड़ियों को जोड़ देने पर जीवन-शृंखला पूरी हो जाती है। यह और बात है कि इन कड़ियों को जोड़ देने की शक्ति मानव में नहीं है—कि इसके लिए हमारे जीवन-संघर्ष की अपेक्षा कहीं अधिक ताव की कहीं अधिक प्रोज्वल भट्टी की आवश्यकता है।

पगडंडी

(कमलाकान्त वर्मा)

तब मैं ऐसी नहीं थी। लोग समझते हैं, मैं सदा को ऐसी ही हूँ–मोटी, चौड़ी, भारी-भरकम; क्षितिज की परिधि को चीर कर, अनन्त को शान्त बनाती, संसार के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक लेटी हुई। वह पुराना इतिहास है। कोई क्या जाने !

तब मैं न तो इतनी लम्बी थी, न इतनी चौड़ी। न चेहरे पर ईंटों की सुर्खी की ललाई थी, न शरीर पर कंकड़ों के गहने। मेरे दायें-बायें वृक्षों की जो ये क़तारें देख रहे हो, वे भी नहीं थीं, न फुट-पाथ था, न बिजली के खम्भे; अप्सराओं की-सी सजी न ये दुकानें थीं, न अँगूठी के नगीने की तरह ये पार्क। तब मैं एक छोटी-सी पगडंडी थी--दुबली, पतली, सुकुमार, नटखट !

कब से मैं हूँ, इसकी तो याद नहीं आती; किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि अमराई के इस पार की कोई तरुणी नदी से जल लाने के लिये उस पार गई होगी; जैसे किसी छोटी-सी नगण्य घटना के बाद किसी प्रथा का जन्म हो जाता है, और उसके बाद फिर एक धर्म भी निकल पड़ता है, उसी तरह एक तरुणी के जल भर लाने के बाद गांव की सारी तरुणियाँ घड़े में जल लेकर अटकती, इठलातीं एक ही पथ से आती रही होंगी और फिर वहीं से मेरे जीवन की कहानी बह निकली।

मेरे अतीत के आकाश के दो तारे अब भी मेरे जीवन के सूनेपन की अँधियारी में झलमला रहे हैं। यों तो सारी अमराई, सारा गांव मेरे परिचितों से भरा था, किन्तु मेरी घनिष्ठता थी, केवल दो जनों से, एक बटदादा और दूसरा था रामी का कुँआं।

बटदादा अमराई के सभी वृक्षों में बूढ़े थे और सभी उन्हें श्रद्धा और आदर से बटदादा कहा करते थे। थे तो वे वृद्ध, किन्तु उनका

हृदय बालकों से भी सरल और युवकों से भी सरस था। वे अमराई के कुलपति थे। उनमें तपस्वियों का तेज भी था और गृहस्थों की कोमलता भी। उनकी सघन छाया के नीचे लेट कर बीते हुए युगों की वेदना और आह्लाद से भरी कहानियाँ सुनना, रिमझिम-रिमझिम वर्षा में उनकी टहनियों में लुककर बैठे हुए पक्षियों की सरस बरसाती का मज़ा लूटना आज भी याद करके मैं विह्वल हो उठती हूँ।

ठीक इन्हीं से सटा हुआ रामी का कुंआँ था--पक्का, ठोस, सजल, स्वच्छ, गम्भीर, उदार। साँझ-सवेरे गाँव की स्त्रियाँ झन् मन् करती आतीं और अमराई को अपने कल-कंठ से मुखरित करके कुंएँ से पानी भरकर मुझे भिगोती हुई, रौंदती हुई, चली जातीं।

मेरी चढ़ती हुई जवानी का आदि भी इन्हीं से होता है, मध्य भी इन्हीं से और अन्त भी इन्हीं से। भूलने की चेष्टा करने पर भी क्या कभी मैं इन्हें भूल सकती हूँ?

मनुष्य के जीवन का इतिहास प्रायः अपने सगों से नहीं, परायों से बनता है। ऐसा क्यों होता है, समझ में नहीं आता; किन्तु देखा जाता है कि अकस्मात कभी की सुनी हुई बोली, किञ्चित्मात्र देखा हुआ स्वरूप, घड़ी-दो-घड़ी का परिचय, जीवन के इतिहास की अमर घटना, स्मृति की अमूल्य निधि बनकर रह जाते हैं और अपने सगों का समस्त समाज, अपने जीवन का सारा वातावरण कमल के पत्ते के चारों ओर के पानी की तरह छल-छल करते रह जाते हैं; उछल-उछल कर आते हैं, बह जाते हैं, टिक नहीं पाते। मैं सोचती हूँ, ऐसा क्यों होता है, पर समझ नहीं पाती।

जेठ के दिन थे। अलस दुपहरी। गरम हवा अमराई के वृक्षों में लुढ़कती फिरती थी। बटदादा ऊंघ रहे थे। एक वृक्ष में लिपटी हुई दो लताओं में झगड़ा हो रहा था। मैं तन्मय हो उनका झगड़ा सुन रही थी, इतने में ही कुंए ने पूछा—'पगडंडी, सो गई क्या?'

'नहीं तो' मैंने कहा—'इन लताओं का झगड़ा करना सुन रही हूँ।'

कुएँ ने हँस कर पूछा—'बात क्या है ?'

मैंने कहा—'कुछ नहीं, नाहक़ का झगड़ा है; दोनों मूर्ख हैं।'

कुएँ ने हँसकर कहा—'संसार में मूर्ख कोई नहीं होता, परिस्थिति सबको मूर्ख बनाती है। इस अमराई में तुम अकेली हो, कल एक और पगडंडी बन जाय तो क्या यह संभव नहीं कि फिर तुम दोनों झगड़ने लग जाओ?'

मैं तिनक गई। बोली—'साधारण बात में भी मेरा ज़िक्र खींच लाने का तुम्हें क्या अधिकार है ?,

कुएँ ने पूछा—'उन्हें मूर्ख कहने का तुम्हें क्या अधिकार है ?'

मैंने कहा—मैं सौ बार कहूंगी, हज़ार बार कहूँगी, वे दोनों मूर्ख हैं, तुम भी मूर्ख हो, सब मूर्ख हैं!'

इतने में ही बटदादा भी जग पड़े, बोले-'किसको मूर्ख बना रही है?'

बात रुक गई, कुआं चुप हो गया। दो दिन तक बोल-चाल बंद रही।

मैंने जान-बूझकर उससे झगड़ा क्यों किया, इसे वह समझ नहीं पाया, इसलिए मुझे सन्ताप भी हुआ और ग्लानि भी। स्त्री प्रेम से विह्वल हो जाती है और अपने उच्छ्वसित हृदय के उद्गारों को जब निरुद्ध नहीं कर पाती तब वह झगड़ा करती है। स्त्री का सबसे बड़ा बल है रोना; उसकी सबसे बड़ी कला है झगड़ा करना। झगड़ा करके तिनकना रूठकर रोना, फिर दूसरे को रुलाकर मान जाना, नारी-हृदय का प्रियतम विषय है। पुरुष, चाहे कितना भी पढ़ा-लिखा हो, साहित्यिक हो, दार्शनिक हो, तत्वज्ञानी हो, यदि वह इतनी सीधी-साधी बात नहीं समझ पाता तो सचमुच मूर्ख है।

यह घटना कुछ नई नहीं थी, नित्यकी थी। कोई छोटी-सी बात लेकर हम झगड़ पड़ते, आपस में कुछ कह सुन देते, फिर हफ्तों एक-दूसरे से नहीं बोलते। किन्तु वह बात जिसके लिए मैं सब कुछ करती, सारा झगड़ा खड़ा करती, कभी नहीं होती। कुआ मुझे कभी नहीं मनाता था।

अन्त में हारकर मुझे ही बोलना पड़ता, तब वह बोलने लगता, मानो कुछ हुआ ही नहीं। मैं मन-ही-मन सोचती, यह कैसा विचित्र जीव है कि न तो इसे रूठने से कोई वेदना होती है और न मानने से कोई आह्लाद। स्वयं भी नहीं रूठता, केवल चुप हो रहता है, बोलती हूं तो फिर बोलने लगता है, जैसे कुछ हुआ ही नहीं। हे ईश्वर! अपनी रचना की हृदयहीनता की सारी थैली क्या मेरे ही लिए खोल रखी है?

इस घटना पर मैंने विशेष ध्यान नहीं दिया, किन्तु वह बात रह-रहकर मेरे कानों में गूंज उठती—'इस अमराई में तुम अकेली हो, कल एक पगडंडी बन जाय तो क्या यह सम्भव नहीं कि फिर तुम दोनों भी झगड़ने लग जाओ?' इसका प्रतिवाद मैंने कैसे किया? उससे झगड़ा किया, उसे मूर्ख बनाया। कुंआ समझता है कि मैं स्त्री हूं और स्त्री-जाति की कमज़ोरी मेरी भी कमज़ोरी है। और इसका प्रतिवाद करने के बदले मैं स्वयं उसके तर्क का प्रतिपादन कर देती हूँ, फिर मूर्ख मैं हुई या वह?

मुझे रह-रहकर अपनी निर्बलता पर क्रोध आ जाता। यदि उसे मेरे लिए कोई सहानुभूति नहीं, मेरे रूठने की कोई चिन्ता नहीं, मुझे मनाने का आग्रह नहीं, तो फिर मैं क्यों उसके लिए मरने लगी। यदि वह हृदय-हीन है, तो मैं भी हृदय-हीन बन सकती हूँ। यदि वह आत्म-निग्रह कर सकता है, तो मैं भी अपने आप पर संयम रखना सीख सकती हूं, मैंने कसम खाई कि फिर उससे रूठूंगी ही नहीं, और यदि रूठूँगी तो फिर बोलूंगी नहीं, चाहे जो भी हो, प्रेम के लिए स्त्रीत्व को कलंकित नहीं करूंगी।

एक दिन की बात है। आश्विन का महीना था। बरसात अभी-अभी बीती थी। न कीचड़ थी, न धूल। छोटी हरी घासों और जंगली फूलों के बीच में होकर मैं अमराई के इस पार से उस पार तक लेटी थी। इस सघन हरियाली के बीच में मुझे देखकर जान पड़ता मानो किसी कुमारी कन्या का सीमन्त हो। शरद मेरे अंग-अंग में प्रतिबिंबित हो रहा था। मैं कुछ सोच रही थी, सहसा कुंए ने कहा—'पगडण्डी, सुनती हो?'

मैंने अन्यमनस्क-सी होकर कहा—'कहो।'

उसने कहा—'तुम दिनोंदिन मोटी होती जा रही हो।'

मैं कुछ नहीं बोली।

कुछ ठहरकर वह फिर बोला—'तुम पहले जब दुबली थीं, अच्छी लगती थीं।'

मैंने कहा—'अगर मैं मोटी हो गई हूं, केवल तुम्हें अच्छी लगने के लिए तो मैं दुबली होने की नहीं!'

कुँए ने कहा—'यह तो मैंने कहा नहीं कि दुबली होकर तुम मुझे अच्छी लगोगी।'

मैंने पूछा—'तब तुमने कहा क्या?'

उसने कहा—'कवियों का कहना है कि दुबलापन स्त्रियों के सौन्दर्य को बढ़ा देता है। मोटी होने से तुम कवियों की सौन्दर्य की परिभाषा से दूर हट जाओगी।'

मैंने खीझकर पूछा—'तुम तो अपने को कवि नहीं समझते न?'

उसने कहा—'बिलकुल नहीं।'

मैंने पूछा—'फिर मोटी हो जाने पर मैं कवियों को अच्छी लगूंगी या बुरी, इससे तुम्हें मतलब?'

उसने शान्त भाव से कहा-'कुछ भी नहीं, केवल यही कि मैं उस परिभाषा को जानता हूं और उसे तुम्हें भी बतला देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।'

मैंने गम्भीर होकर कहा—'धन्यवाद!'

स्त्री, यदि वह सचमुच स्त्री है तो सब कुछ सह सकती है, पर अपने रूप का तिरस्कार नहीं सह सकती। स्त्री चाहे घोर कुरूपा हो पर पुरुष को उसे कुरूपा कहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं। स्त्री का स्त्रीत्व ही संसार का सब से महान् सौन्दर्य है और उसके प्रति असुन्दरता का संकेत करना भी उसके स्त्रीत्व को अपमानित करना है। स्त्री के स्वरूप का उपहास करना वैसा ही है जैसा पुरुष को कायर

कहना। मैं समझ गई कि कुआं मुझ पर मार्मिक आघात कर रहा है, परिहास नहीं, उपहास करना चाहता है। मैंने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की कि चाहे अन्त जो भी हो, मैं भी आज से युद्ध प्रारम्भ करूँगी।

उसी दिन रात को चाँदनी खिली थी। रजनीगंधा के सौरभ से अमराई मस्त होकर झूम रही थी। बटदादा पक्षियों को सुलाकर अपने भी सोने का उपक्रम कर रहे थे। बोले—'सो गई बेटी ?'

मैंने कहा—'नहीं दादा, ऐसी चांदनी क्या सदा रहती है ? मेरे तो जी में आता है कि जीवन-भर ऐसे ही लेटे-लेटे चांद को देखता रहूं।'

इतने ही में कुआं बोला—'दादा, अमराई में ब्याह के गीत अभी से गाने शुरू करवा दो।'

दादा ने पूछा—'कैसा ब्याह ?'

उसने कहा—'देखते नहीं, प्रेम का पहला चरण प्रारम्भ हो गया है, दूसरे चरण में कविताएँ बनेंगी, तीसरे चरण में पागलपन का अभिनय होगा, चौथे चरण में सगाई हो जायगी।'

मुझे मन-ही-मन गुदगुदी-सी जान पड़ने लगी। सोचा आज इसे खिझाऊंगी। मैंने हँसकर कहा—'दादा, देखो अपने-अपने भाग्य की बात है। ईश्वर ने तुम्हें इतना ऊँचा बनाया है। तुम अपनी असंख्य अञ्जलियों से सूर्य और चन्द्रमा की किरणों का अजस्र पान करते हो और किसी एकान्त से आती हुई वायु में अनन्त स्नान करके विस्तृताकाश में सर उठाकर प्रकृति की अनन्त विभूतियों का अनुशीलन करते हो। नक्षत्रों से भरी हुई रात में शत-शत पक्षियों को गोद में लिए हुए तुम चन्द्रलोक की कहानी सुना करते हो, उषा और गोधूलि नित्य तुम्हें स्नेह से चूम लिया करते हैं, प्रकृति का अनन्त भण्डार तुम्हारे लिए उन्मुक्त है। मैं तुम्हारे जैसी ऊँची तो नहीं हूं, फिर भी दूर तक फैला हूँ। वसुन्धरा अपनी सुषमा मेरे सामने बिखेर देती है, आकाश सूर्य और चन्द्रमा की किरणों का जाल मेरे ऊपर फैला देता है। अनन्त की मादकता, सावन की सजल हरियाली और शरद् की स्वच्छ सुषमा मेरे

जीवन में स्फूर्ति प्रदान करती है। मैं केवल जीती ही नहीं, जीवन का उपभोग भी करती हूं। किन्तु मुझे दुःख उन लोगों को देखकर होता है, जिन्हें न तो सूर्य का प्रकाश मिलता है, न चन्द्रमा की किरणें; अन्धकार ही जिनके जीवन की भित्ति है और सूनापन ही जिनकी एक कहानी। वे आकाश को उतना-ही बड़ा समझते हैं, जितना उनके भीतर समाता है, वसुन्धरा को उतनी-ही दूर तक समझते हैं, जितना वे देख सकते हैं। दादा! उनका अस्तित्व कैसा दयनीय है, तुमने कभी सोचा है?'

दादा कुछ नहीं बोले, शायद सो गये थे। लेकिन कुआं बोला—'सुन रहे हो, दादा! पगडंडी कितना सच कह रही है? ऐसे लोगों से अधिक दयनीय जीवन किसका होगा? कुछ दिन पहले मैं भी यही सोचा करता था, किन्तु मुझे जान पड़ा कि संसार में और भी अधिक दयनीय जीवन हो सकता है। ईश्वर ने जिसे सूर्य और चन्द्रमा के आलोक से वञ्चित रखा, आकाश का विस्तार और वसुन्धरा का वैभव जिसे देखने नहीं दिया, उस पर दया करके कम-से-कम उसे एक ऐसी चीज़ दे दी, जिससे वह संसार का उपकार कर सकता है, जिसे वह अपना कह सकता है, जिसके द्वारा वह संसार का किसी-न-किसी रूप में लक्ष्य बन सकता है। किन्तु उससे अधिक दयनीय तो वे हैं जिनके सामने सृष्टि का सारा वैभव बिखरा पड़ा है, किन्तु जिनके पास अपना कहने को कुछ भी नहीं। रेखागणित की रेखा की तरह उनका अस्तित्व तो है, किन्तु उनकी मुटाई, लम्बाई, चौड़ाई सब कुछ काल्पनिक है। उनका अस्तित्व किसी दूसरे के अस्तित्व में अन्तर्निहित है! वे सभी के साधन हैं किन्तु लक्ष्य किसी के भी नहीं। ऐसे लोग भी दुनिया में हैं। दादा क्या उन पर तुम्हें दया नहीं आती?'

दादा बिलकुल सो गये थे। मैंने तैश में आकर कहा—'रामी के कुआं, यदि तुम समझते हो कि तुम संसार के लक्ष्य हो और मैं केवल साधन-मात्र, तो यह तुम्हारी भूल है। संसार में जो कुछ है, साधन ही है, लक्ष्य कुछ भी नहीं। लक्ष्य शब्द मनुष्य की उलझी हुई कल्पना का फल

है ! लक्ष्य एक भावना-मात्र है, स्थूल और प्रत्यक्ष रूप में जिस किसी का अस्तित्व है, वह साधन ही है, चाहे जिस रूप में हो।'

कुएँ ने गंभीर स्वर में कहा—'तुमने मेरा पूरा नाम लेकर पुकारा 'इसके लिए धन्यवाद। मैं उत्तर में केवल दो बातें कहूंगा। पहली तो यह कि हमारा और तुम्हारा कोई अपना झगड़ा नहीं है, मैं समझता हूं, व्यक्तिगत रूप से न तुमने मुझे कुछ कहा है, न मैं तुम्हें कुछ कह रहा हूं। दूसरी बात यह है कि जैसा तुम कह रही हो, लक्ष्य और साधन में प्राकारिक अन्तर न होते हुए भी पारिमाणिक अन्तर है। संसार में लक्ष्य नाम की कोई चीज़ नहीं, ठीक है; यहां जो कुछ है किसी-न-किसी रूप में साधन ही है. यह भी ठीक है। फिर भी मानना पड़ेगा कि साधनों में कुछ साधन ऐसी अवस्था में हैं, जिन्हें साधन के अतिरिक्त दूसरा कुछ कहा ही नहीं जा सकता, और कुछ साधन ऐसी अवस्था में पहुँच गए हैं, जिन्हें संसार अपनी सुविधा के लिए लक्ष्य ही कहना अधिक उपयुक्त समझता है। इसका प्रत्यक्ष स्थूल प्रमाण यह है कि कुछ लोगों के यहां संसार आता है, हाथ फैलाकर कुछ मांगता है और फिर चला जाता है, संसार की स्थूल व्यावहारिक भाषा में वे तो हुए लक्ष्य, और कुछ लोग है ऐसे जिनके यहां संसार आता है, किन्तु इसलिए नहीं कि वह उनसे कुछ लेना चाहता है, बल्कि इसलिए कि उनके द्वारा वह अपने लक्ष्य के पास पहुँच सकता है; तुम्हारी सूक्ष्म दार्शनिक भाषा में ऐसे लोग हुए साधन। समझीं ?'

मैं कुछ कहना ही चाहती थी कि उसने रोक दिया, कहा—'देखो, तुम्हारी चाँदनी डूब गई, अब तो सो सकती हो या नहीं ?'

कुछ दिन और बीते। मेरे प्रेम की आग पर आत्माभिमान की राख पड़ने लगी। कुआं संसार का लक्ष्य है, मैं केवल एक साधन हूँ। फिर मेरा उसका प्रेम कैसे हो सकता है ! मैं कभी-कभी सोचती, प्रेम में प्रतियोगिता कैसी ? मान लो, वह संसार में सब कुछ है और मैं कुछ भी नहीं, फिर भी क्या यह यथेष्ट कारण है कि यदि मैं उससे प्रेम करूं तो

वह उसका प्रतिदान न दे ? कुआँ अपने सांसारिक महत्त्व के गर्व में चूर है। वह समझता है कि उसके सामने मैं इतनी तुच्छ हूं कि मुझसे प्रेम करना तो दूर रहा, भर-मुंह बोलना भी पाप है। वह मुझसे घृणा करता है, मेरा उपहास करता है, बात-बात में मुझे नीचा दिखाना चाहता है। बर्बर पुरुष जाति !

मैं दिनों-दिन उससे दूर हटने की चेष्टा करने लगी। उसके सामीप्य में मेरा दम घुटने लगा। वह महत्त्वशाली है, संसार उसके सामने भिखारी बनकर आता है और मैं ! मेरा तो कोई अस्तित्व ही नहीं, किसी लक्ष्य तक पहुँचने का एक साधन-मात्र हूं। मेरी उसकी क्या तुलना?

सांझ-सवेरे गांव की स्त्रियां आतीं और पानी भर ले जातीं। अलस दुपहरी में पथिक अमराई में विश्राम करने के लिए आते और कुएँ के पानी में सत्तू सानकर खाते, फिर थोड़ी देर वृक्षों के नीचे लेटकर अपनी राह चले जाते। गांव के छोटे-छोटे लड़के अमराई में आकर फल तोड़ते, कुएँ से पानी खींचते और फिर फल खाकर मुँह-हाथ धोकर चले जाते जहां देखो उसी की चर्चा, उसी की बात। मैं अपनी नगण्यता पर मन-ही-मन कुढ़कर जल-सी जाती। मुझे जान पड़ता, मानो संसार मेरा उपहास कर रहा है, आकाश मेरा तिरस्कार कर रहा है, पृथ्वी मेरी अवहेलना कर रही है। मेरा अस्तित्व रेखागणित की रेखाओं और बिंदुओं का अस्तित्व है। मैं सबकी हूँ, पर मेरा कोई नहीं। मैं भी अपनी नहीं केवल संसार को किसी लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए साधन-सी बनकर जी रही हूँ। मुझे यहां से हटना ही पड़ेगा। चाहे जहां भी जाऊँ, जाऊँगी ज़रूर। हृदय की शान्ति की खोज वन-वन भटकूंगी, वसुन्धरा के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक के अनन्त विस्तार को छान डालूंगी, यदि कहीं शांति नहीं मिली तो किसी मरुभूमि की विशाल सैकत-राशि में जाकर विलीन हो जाऊंगी, या किसी विजन पर्वत-माला की अंधेरी गुफा में जाकर सो रहूँगी, फिर भी यहां न रहूँगी। वहां से मैं हटने का उपक्रम करने लगी।

आधी रात थी। चांदनी और अन्धकार अमराई के वृक्षों के नीचे गाढालिंगन में बंधे सो रहे थे। मुझे उस रात की सारी बातें अब भी याद हैं, मानो अभी कल ही की हों। मैं अपने अतीत जीवन की कितनी ही छोटी-छोटी स्मृतियां सहेज रही थी। इतने में कुएं ने पुकारा—'पगडण्डी !'

निशीथ के सूनेपन में उसकी आवाज गूंज उठी! मैं चौंक पड़ी। इतने दिनों के बाद आज कुआं मुझे पुकार रहा है, मेरा कौतूहल उमड़ने लगा।

मैंने कहा—'क्या है ?'

कुआं थोड़ी देर चुप रहा, फिर पुकारा—'पगडण्डी !'

शायद उसने मेरा बोलना सुना ही नहीं। मुझे आश्चर्य होने लगा, क्या आज कोई अभिनय होगा ? मैंने संयत स्वर में कहा—'क्या है ?'

कुआं बोला—'पगडण्डी, मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूं।'

मैंने कहा—'पूछो।'

वह बोला—'शायद तुम यहाँ से कहीं जा रही हो ?'

उस समय बिजली भी गिर पड़ती तो मुझे उतना आश्चर्य न होता। इसे कैसे मालूम हुआ ? यदि मान लूं कि किसी तरह मालूम भी हो गया, तो फिर इसे क्या मतलब ? मैं क्षण-भर में ही न जाने क्या-क्या सोच गई, कितने ही भावों से मेरा हृदय उथल-पुथल हो उठा, किन्तु मैंने सारा आवेग रोक कर उदासीन स्वर में कहा—'हां !'

कुआं थोड़ी देर चुप रहा, फिर बोला—'तुम इस अमराई से जा रही हो अच्छा है। मैं बहुत प्रसन्न हूँ।'

मैं कुछ उत्तर देने जा रही थी, तब तक उसने रोक दिया—'ठहरो, मेरी बात सुन लो। जब तुम पहले-पहल यहां आई थी, तब जितना प्रसन्न मैं हुआ था, उतना और कोई नहीं। आज जब तुम यहां से जा रही हो, तब भी जितनी खुशी मुझे हो रही है, उतनी और किसी को नहीं। तुम इसका कारण जानती हो ?'

मैं कुछ नहीं बोली।

वह कहने लगा—'मैं तुम्हें किसी दिन कहने वाला ही था! तुमने स्वयं जाने का निश्चय कर लिया। यह और भी अच्छा हुआ।'

मैंने अन्यमनस्क-सी कहा—'संसार में जो कुछ होता है, अच्छा ही होता है।'

कुआं बोला—'पगडण्डी, तुम यहां से जा रही हो, सम्भावना यही है कि फिर तुम कभी लौटकर नहीं आओगी। तुम्हारे जाने के पहले मैं तुमसे अपने हृदय की बात, एक चिरसंचित बात कहूँगा, सुनोगी तो?'

मेरे हृदय में उस समय दो धाराएं बह रही थीं; एक संशय की दूसरी विस्मय की। फिर भी इतना है कि संशय से अधिक मुझे विस्मय ही हुआ। मैंने सारा कौतूहल दबाकर कहा—'कहते जाओ।'

कुआँ कहने लगा—'मुझे अधिक कुछ नहीं कहना है। केवल दो बातें हैं। मैंने तुमसे कभी नहीं कहा था इसका कारण यह है कि अब तक कहने का समय नहीं आया था। तुम अब जा रही हो, जान पड़ता है वह समय आ गया, इसलिए कह रहा हूँ।'

थोड़ा रुककर, फिर अपने स्वाभाविक दार्शनिक ढंग से उसने कहना शुरू किया—

'पहली बात यह है कि तुम्हारे प्रति अगाध प्रेम होते हुए भी आज तक मैंने ज़ाहिर क्यों नहीं होने दिया? मुझे याद है, जिस दिन आकाश के ज्योतिष्पथ की तरह तुम पहले-पहल इस अमराई में आकर बिछ गईं उस दिन मैंने बड़दादा से पूछा--'दादा, यह कौन है?' दादा ने विनोद से कहा--'तुम्हारी बहू!' मैं झेंप गया। तब से लेकर आज तक एक युग बीत गया, कितने वसंत, आये कितनी बरसातें आईं, इस अमराई की सघन छाया में हम दोनों ने कितनी कहानियाँ सुनीं, कितने गीत सुनकर फिर भूल गये और कितनी बार हम आपस में लड़े-झगड़े हैं। इस अतीत जीवन की छोटी-से-छोटी घटना भी मेरे स्मृति-पट पर अमर-रेखा

बनकर खिंच गई है और उन टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं को जोड़कर जो अक्षर बनते हैं, उसका एक-मात्र अर्थ यही निकलता है कि इस अमराई में छोटी-पतली-सी जो एक पगडण्डी है, उस पगडण्डी के सूने उपेक्षित जीवन का जो निष्कर्ष है वह किसी एक युग या एक देश का नहीं, विश्व-भर का अनन्तकाल के लिए आलोक-स्तम्भ बन सकता है। वह न रहे, किंतु उसकी कथा युग-युग तक कल्पना-लोक के विस्तृताकाश में स्त्रीत्व का आदर्श बन आकाश-दीप-सी झिलमिलाती रहेगी।

किन्तु इतना होते हुए भी आज तक मैंने तुम से कभी कुछ कहा क्यों नहीं ?

इतना ही नहीं, मैंने अब तक तुम्हारे प्रति केवल उदासीनता और कठोरता के भाव ही प्रकाशित किये। नीरस उपेक्षा, आलोचनात्मक विनोद, इसके अतिरिक्त मुझे याद नहीं, मैं और भी तुम्हें कुछ दे सका हूं या नहीं ! किन्तु क्यों ? केवल एक ही कारण था।

पगडण्डी, मैं तुम्हें जानता था, तुम्हारे हृदय को अच्छी तरह पह-चानता था। मैं तुम्हारे जीवन का दार्शनिक अध्ययन कर रहा था। मैं जानता था, संसार के कल्याण के किसी अभिप्राय को लेकर तुम्हारे जीवन का निर्माण हुआ है। मैं जानता था, किस लक्ष्य को लेकर विश्व की रचनात्मक शक्ति ने तुम्हें स्वर्ग से लाकर इस अमराई की घासों और पत्तों की सेज पर सुला दिया है। मैं यह भी जानता था कि तुम्हारे अवतरण का जो अन्तर्निहित अभिप्राय है, वह किस पथ पर चलकर तुम अधिक-से-अधिक प्राप्त कर सकती हो।

जिस महान् उद्देश्य को लेकर तुम जन्मी हो, उसे मैं जानता हूँ, इच्छा रहते हुए भी मैं तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकता। किंतु हाँ, एक बात कर सकता हूँ। गायक अपनी तान को आरोह-अवरोह के बीच में नचाता हुआ ले जाकर सम पर बिठा देता है। सुनने वाले उसे सहायता नहीं दे सकते, फिर भी अन्त में सम पर एक बार सर हिला देते हैं। तान लौटकर घर आ गई, सबका सर हिल गया। पगडण्डी, अपने

जीवन के उच्चादर्श को तुम्हें अकेले ही निभाना पड़ेगा, मैं केवल इतना ही कर सकूँगा कि जिस दिन तुम्हारे जीवन की तान लौटकर घर आ जायगी, उस दिन उस संगीत में अपने को बहाकर सर हिला दूंगा। तुम्हारे जीवन संगीत के सम पर अपने को निछावर कर दूँगा, बस।

प्रेम से स्वर्ग मिलता है, किन्तु उससे भी ऊंचा उससे भी पवित्र एक स्थान है। उसका वही पथ है जिस पर तुम जा रही हो, सेवा। प्रेम सभी कर सकते हैं, किंतु सेवा सभी नहीं कर सकते। प्रेम करना संसार का स्वभाव है, किंतु सेवा एक साधना है। प्रेम हृदय की सारी कोमल भावनाओं का आकुञ्चन है, सेवा उनका प्रसार। प्रेम में स्वयं लक्ष्य बनकर अपना एक लक्ष्य बनाना पड़ता है, सेवा में अपने को संसार का साधन बनाकर संसार को अपनी साधनाओं की तपोभूमि बना देना पड़ता है। प्रेम यज्ञ है और सेवा तपस्या। प्रेम से प्रेमिक मिलता है और सेवा से ईश्वर।

जन्म से लेकर आज तक तुम सेवा के पंथ परही रही हो और अब भी उत्तरोत्तर उसी पर आगे बढ़ती जा रही हो। तुम्हारे मार्ग में जो सबसे बड़ा विघ्न बनकर खड़ा हो सकता वह है प्रेम! प्रेम मनुष्यत्व है और सेवा देवत्व। तुम्हारी आत्मा स्वर्गिक होते हुए भी तुम्हारा शरीर भौतिक है। आत्मा और शरीर का द्वन्द्व संसार की अमर कहानी। बसंत जब अपना मधुकलश पृथ्वी पर उंडेल देता है, वर्षा जब बन-बन में हरियाली बिखेर देती है, शरद के शुभ्राभ्र खंड जब आकाश में तैरने लगते हैं, तब आत्मा की साधनाओं में शरीर छोटे-छोटे सपने छींट देता है; सामवेद की मधुर गंभीर ध्वनि में मेघ-मलार की मस्तीतानी तानें भीन जाती हैं, सोमरस में कादंब की बूँदें चू पड़ती हैं, कैलाश बसंत आ जाता है, यह बहुत पुरानी कथा है। युग-युगान्तर से यही होता आया है और यही होता रहेगा। फिर भी सभी इसे भूल जाते हैं। आंखें झप जाती हैं, तपस्या के शुभ्र प्रत्यूष में अनुराग की अरुण उषा छिटक पड़ती है, साधन का बर्फ गलने

लगता है, लगन की आग मँझाने लगती है, हृदय की एकान्तता में किसी की छाया घुस पड़ता है, जागृति में अँगड़ाई भर जाती है, स्वप्नों में मादकता भीन जाती है, और...और जब आंखें खुलती हैं तब कहीं कुछ नहीं रहता। फिर से नई कहानी शुरू होती है -नई यात्रा होती है, नया प्रस्थान होता है। इसी तरह यह संसार चलता है।

आत्मा के ऊपर शरीर का सबसे बड़ा प्रभाव है संशय। जब संसार में सभी किसी-न-किसी से प्रेम करते हैं, सभी का कोई-न-कोई एक अपना है, जब किसी से प्रेम करना, किसी के प्रेम का पात्र बनना प्राणिमात्र का अधिकार है, तब फिर मैं—केवल मैं ही—क्यों इससे वञ्चित रहूँ? यह जीव की अमर समस्या है, शाश्वत प्रश्न है।

किन्तु सत्य क्या है, लोग यह समझने की बहुत कम चेष्टा करते हैं। जिनके पैर हैं वे ज़मीन पर चलते हैं, किन्तु जिन्हें पङ्ख मिले हैं यदि वे भी ज़मीन पर ही चलें तो यह अपनी शक्तियों का दुरुपयोग है। जिन्हें ईश्वर ने आकाश में उड़ने के लिए बनाया है, उनके लिए पृथ्वी पर चलना अपने महत्त्व की उपेक्षा करना है, अपने आपको भूलना है—

प्रेम करने की योग्यता सब में है; किन्तु सेवा करने की शक्ति किसी-किसी को ही मिलती है। सेवा करने की योग्यता रखना दण्ड नहीं, ईश्वर का आशीर्वाद है। जिसे ईश्वर ने संसार में अकेला बनाया है, धन-वैभव नहीं दिया है, सुख में प्रसन्न होने वाला और दुःख में गले लगाकर रोने वाला साथी नहीं दिया है, संसार के शब्दों में जिसे उसने दुखिया बनाया है, उसके जीवन में उसने एक महान् अभिप्राय भर दिया है, शक्ति का एक अमर स्रोत, बेचैनी की तड़फड़ाती हुई आंधी, उसके अन्तर में सँजोकर रख दी है। हो सकता है वह इसे न समझे, शायद संसार भी इसे न समझे; फिर भी वह नहीं है, ऐसी बात नहीं वह है, आवश्यकता है केवल उसे समझने की।

पगडण्डी, तुम ईश्वर की उन्हीं रचनाओं में से एक हो। तुम्हारा निर्माण इसलिये नहीं हुआ है कि तुम एक की होकर रहो, एक के

लिए जिओ और एक के लिए मरो। नहीं, तुम पृथ्वी पर एक बहुत बड़ा उद्देश्य लेकर आई हो। जेठ की धधकती हुई लू में, भादों की अजस्र वर्षा में और शिशिर के तुषार-पात में इसी तरह लेटी रहकर तुम्हें असंख्य मनुष्यों को घर से बाहर और बाहर से घर पहुँचाना पड़ेगा। सभ्यता के विस्तार के लिए, जीवन के सौख्य के लिए, संसार के कल्याण के लिए तुम्हें बड़ा-से-बड़ा त्याग करना पड़ेगा। तुम्हारा कोई नहीं है, इसलिए कि सभी तुम्हारे हैं; तुम किसी की नहीं हो, इसलिए कि तुम सभी की हो। तुम अपने जीवन का उपभोग नहीं करती हो, तुम विश्व की अक्षय विभूति हो।

आज के पहले मैंने तुमसे कभी कुछ नहीं कहा था, कारण यह था--पगडंडी, मेरी स्पष्टवादिता को क्षमा करना, कि तुम्हारी आत्मा सोई हुई थी, केवल शरीर जगा था। तुम नहीं समझती थीं कि तुम कौन हो, किसलिए यहां आई हो, तुम संसार के पुराने पथ पर चलना चाहती थीं। आज, चाहे जिस कारण से हो, तुम्हें अपने वर्त्तमान जीवन से असन्तोष हो गया है, तुम्हें अपने से घृणा हो आई है। आज तुम अनन्त में कूदने जा रही हो, संसार में कुछ करने जा रही हो, तुम्हारी आत्मा जाग उठी है। इन बातों को कहने का मुझे आज ही अवसर मिला है।

पगडंडी, तुम ऐसा न समझना कि मैं तुमसे स्नेह नहीं करता, उससे भी अधिक मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ। फिर भी अपने व्यक्तित्व को तुम्हारे पथ में खड़ा करके मैं तुम्हारी आत्मा की प्रगति को रोकना नहीं चाहता। मैं तुम्हारी चेतना में अपनी छाया डालकर उसे मलिन नहीं करना चाहता। तुम्हारी संगीत-लहरी में अपवादी स्वर बनकर उसे बेसुरा बनाना नहीं चाहता। मैं बड़े उल्लास से तुम्हें यहां से विदा करता हूँ। जाओ—संसार में जहां तुम्हारा अधिक उपयोग हो सके, वहां जाओ और अपने जीवन को सार्थक बनाओ—यही मेरी कामना है, यही मेरा सन्देश है, यही मेरा···क्षमा करना···आशीर्वाद है!

केवल एक बात और कहनी है। मेरी हृदयहीनता को भूल जाना-हो सके तो क्षमा कर देना। मेरा भी हृदय है, उसमें भी थोड़ा रस है, पर मैंने जान बूझकर सुखा दिया, उसे आंखों में नहीं आने दिया, ओठों पर से पोंछ डाला। तुम्हारे कर्तव्य-पथ को मैं अपने आंसुओं से गीला नहीं बनाना चाहता—पगडण्डी, मेरी कथा समझने की कोशिश करना, यदि न समझ पाओ तो···तो फिर सब कुछ भूल जाना।

संसार तुम्हारी राह देख रहा है, अनन्त तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। जाओ अपना कर्तव्य पालन करो। संसार तुम्हें कुचले तो तड़पना नहीं, भूल जाय तो सिसकना नहीं ! भूले हुए पथिकों का घर पहुंचा देना, जो घर छोड़-कर विदेश जाना चाहते हों उनकी सहायता करना, जब तक जीना खुश रहना, कभी किसी के लिए रोना नहीं और—एक बात और—यदि तुम्हारे हृदय में कभी प्रेम की भावना आ जाय तो कोशिश करके, अपने अस्तित्व का सारा बल लगाकर, उसे निकाल डालना। यदि न निकाल सको तो फिर वहां से कहीं दूर-बहुत दूर-चली जाना।

पगडण्डी ! विदा ! तुम अपने ज्योतिर्मय भविष्य में अपने धुंधले अतीत को डुबो देना। सब कुछ भूल जाना—बटदादा और रामी के कुएं को भूल जाना। केवल यही याद रखना कि तुम कौन हो और तुम्हारा कर्तव्य क्या है—बस जाओ विदा !—ईश्वर तुम्हें बल दे।

कुआं चुप हो गया। आधी रात की स्वप्निल नीरवता में जान पड़ता था उसका स्वर अब भी गूंज रहा हो, शब्द अन्तरिक्ष में अब भी घुमड़ते फिरते हों। मैं कुछ बोल नहीं सकी, सोच भी नहीं सकी। तन्द्रा-सी छा गई, काठ-सा मार गया। उसके अन्तिम शब्द अर्धरात्रि के शून्य अन्धकार में बिजली के अक्षरों में मानो चारों ओर लिखे हुए-से उग रहे थे,—'बस जाओ, विदा, ईश्वर तुम्हें बल दे !'

ठीक-ठीक याद नहीं आता, कितने दिन हुए, फिर भी एक युग-सा बीत गया। मेरी आंखों के सामने वह स्वरूप आज भी रह-रहकर नाच उठता है, कानों में वे शब्द अब भी रह-रहकर गूंज उठते हैं।

अब मैं राजधानी का राजमार्ग हूँ। दोनों ओर सहेलियों की तरह दो फुट-पाथ हैं, धूप और वर्षा से बचाने के लिए दोनों ओर वृक्षों की कतारें हैं, रोशनी के लिये बिजली के खम्भे हैं, और न जाने विभव-विलास की कितनी चीजें हैं। नित्य मेरा श्रृंगार होता है, मेरी देख-रेख में हजारों रुपये खर्च किये जाते हैं, राज-महिषी की तरह मेरा सत्कार होता है, जहां तक दृष्टि जाती है—बस मैं हो मैं हूं।

उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। मैं शहर की धमनी हूँ, इसका रक्त-प्रवाह मुझी से होकर चारों ओर दौड़ता है। मैं सभ्यता का स्तम्भ हूँ, राज्य-सत्ता का प्राण हूँ। इतनी भीड़ रहती है कि सोचने की फुर्सत भी नहीं मिलती। जन-समुद्र की अनन्त लहरें मुझे कुचलती हुई एक ओर से दूसरी ओर निकल जाती हैं, मैं उफ तक नहीं करती। इतनी भीड़ में मुझे अपना कहने वाला एक भी नहीं, एक क्षण के लिए भी मेरा होने वाला कोई नहीं। मेरे जलते हुए निर्विश्राम जीवन पर सहानुभूति की दो बूंद छिड़क दे, ऐसा कोई नहीं। फिर भी मैं व्यथित नहीं होती, खुश रहने की कोशिश करती हूँ, वेदना के शोलों पर मुस्कराहट की राख बिखेरती रहती हूँ, ओठों में हृदय को छिपाये रखती हूँ। जहां तक होता है, उसने जो कुछ कहा था सब करती हूँ। केवल एक ही बात नहीं होती, उसे भूल नहीं पाती!

अमराई की छाया में घास और पत्तों पर वह जीवन, पक्षियों के गाने, लताओं का झगड़ा, वटदादा की कहानियां, और···और क्या कहूँ? कितनी बातें हैं जो भुलाई नहीं जा सकती? मेरे जीवन-संगीत की तान लौट कर सम पर आती है, आकर फिर लौट जाती है, पर किसी का सर नही हिलता!

यह पुराना इतिहास है। कोई क्या जाने! एक समय था जब मैं ऐसी नहीं थी! ✓

भाई-बहन

(सत्यवती मलिक)

'माजी !......हाय ! माजी !......हाय !' एक बार, दो बार, पर तीसरी बार 'हाय ! हाय !' की करुण पुकार सावित्री सहन न कर सकी। कारबन-पेपर और डिज़ाइन की कापी वहीं टेबिल पर पटक कर शीघ्र ही उसने बाथ-रूम के दरवाजे के बाहर खड़े कमल को गोद में उठा लिया और पुचकारते हुए कहा, 'बच्चे'सबेरे-सबेरे नहीं रोते।'

'तो निर्मला मेरा गाना क्यों गाती है,और उसने मेरी सारी कमीज़ क्यों छींटे डालकर गीली कर दी है?'

स्नानागार में अभी तक पतली-सी आवाज़ में निर्मला गुनगुना रही थी,'एक......लड़का......था......वह रोता......रहता......'

'बड़ी दुष्ट लड़की है। नहाकर बाहर निकले तो सही, ऐसा पीटूं कि वह भी जाने।' मां से यह आश्वासन पाकर कमल कपड़े बदलने चला गया।

न जाने कितनी मंगल-कामनाओं, भावनाओं और आशीर्वादों को लेकर सावित्री ने अपने भाई के जन्म-दिन पर उपहार भेजने के लिए एक श्वेत रेशमी कपड़े पर तितली का सुन्दर चित्र खींचा है। हल्के नीले, सुनहरे और गहरे लाल रंग के रेशम के तारों के साथ-ही-साथ जाने कितनी ही मीठी स्मृतियां भी उसके अन्तस्तल में उठ-उठकर बिंधी-सी जा रही हैं, और अनेक वन, पर्वत, नदी, नाले तथा मैदान के पार दूर से एक मुखाकृति बार-बार नेत्रों के सम्मुख आकर उसके रोम रोम को पुलकित कर रही है। कभी ऐसा भी लगता है, मानो सामने दीवार पर लटकी हुई नरेन्द्र की तस्वीर हंसकर बोल उठेगी। सावित्री की आँखों में प्रेमाश्रु छलक उठे। तितली का एक पंख काढ़ा जा चुका है;

किन्तु दूसरा आरम्भ करने से पूर्व ही कमल की सिसकियों और आँसुओं ने सावित्री को वहां से उठने को विवश कर दिया।

स्कूल की चीज़ों को बेग में डालते हुए निर्मला के निकट खड़े होकर सावित्री ने कड़क कर कहा, 'निर्मला' तुझे शर्म नहीं आती क्या ? इतनी बड़ी हो गई है ! कमल तुझसे पूरे चार वर्ष छोटा है। किसी चीज़ को उसे छूने तक नहीं देती। हर घड़ी वह बेचारा रोता रहता है । अगर उसने तेरे पेन्सिल बक्स को तनिक देख लिया, तो क्या हुआ ?'

निर्मला सिर नीचा किए मुस्करा रही थी। यह देखकर सावित्री का पारा और भी चढ़ गया । उसने ऊँचे स्वर में कहना शुरू किया, 'रानी जी, बड़े होने पर पता चलेगा, जब इन्हीं दुर्लभ सूरतों को देखने के लिए भी तरसोगी। भाई-बहन सदा साथ-साथ नहीं रहते।'

मां की झिड़कियों ने बालिका के नन्हें मस्तिष्क को एक उलझन में डाल दिया। आश्चर्यान्वित हो वह केवल मां के क्रुद्ध चेहरे की ओर एक स्थिर, गम्भीर, कौतूहलपूर्ण दृष्टि डाल कर रह गई।

करीब आधा घंटा बाद किंचित् उदास-सा मुख लिए निर्मला जब कमल को साथ लेकर स्कूल चली गई, तब सावित्री को अपनी सारी वक्तृता सारहीन प्रतीत होने लगी। सहसा उसे याद आने लगी कुछ वर्ष पूर्व की बात। तब वह नरेन्द्र से क्यों रूठ गई ? छिः ! एक तुच्छ सी बात पर......किन्तु आज जो बात तुच्छ जान पड़ती है, उन दिनों उसी तुच्छ, निकृष्ट, ज़रा-सी बात ने इतना उग्र-रूप धारण कर लिया था, जिसके कारण भाई-बहन ने आपस में पूरे एक महीने तक एक बात भी न की थी। एकाएक सावित्री के चेहरे पर हंसी प्रस्फुटित हो उठी, जब उसे स्मरण हो आया नरेन्द्र का दिन-रात नये-नये रिकार्ड लाकर ग्रामोफोन पर बजाना और एक दोस्त से दूरबीन मांग कर आते-जाते बहन के कमरे की ओर झांकना कि किसी तरह इन दोनों चीज़ों का प्रभाव सावित्री पर पड़ रहा है या नहीं ! उसे यह भी याद करके खूब हंसी आई कि कैसे वह मौन धारण किए हुए मिठाई की तश्तरी नरेन्द्र के कमरे में रख आती थी।

टेबल क्लाथ पुनः हाथ में लेकर काढ़ते हुए सावित्री ने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की कि अब से वह बच्चों को बिल्कुल डांट-फटकार नहीं बतायेगी; किन्तु इधर बारह बजे की आधी छुट्टी में खाने के समय फिर कई अभियोग कमल की ओर से मौजूद थे —'निर्मला मुझे अपने साथ-साथ नहीं चलने देती,पीछे छोड़ आती है। 'मन्दा कि नीर पूर्ण धारायें, के बदले'कमल किनीर पूर्ण धारायें'गाना गाती है और गधा कहती है।'

मामला कुछ गम्भीर न था और दिन होता तो शायद निर्मला की इन शरारतों को सावित्री हंसी समझ कर टाल देती; परन्तु वह उद्दण्ड लड़की सवेरे ही उसके प्रिय तथा आवश्यक कार्य में बार-बार बाधा डाल रही है ! एक हल्की चपत निर्मला के लगाते हुए मां ने डांटकर कहा, 'बस, कल ही स्कूल से तेरा नाम कटवा दिया जायगा। यह सब अंग्रेज़ी स्कूल की शिक्षा का ही नतीज़ा है। जरा-सी लड़की ने घर-भर में आफत मचा रखी है। अभी से भाई-बहनों की शक्ल-सूरत नहीं भाती, बड़ी होने पर जाने क्या-क्या करेगी।' फिर थाली में पूरी तरकारी डालकर बच्चों के आगे रखते हुए ज़रा धीमे स्वर में कहा, 'देखो निर्मला' जब मैं तुम्हारे बराब' की थी, तो अपने भाई-बहनों को कभी तंग नहीं करती थी, कभी अपने माता-पिता को दुख नहीं देती थी।' किन्तु यह बात कहते हुए भीतर-ही-भीतर सावित्री को कुछ झिझक-सी हो आई।

× × ×

'हम दोनों सीता के घर से जलूस देखेंगे मां, अच्छा।' कमल ने विनम्र स्वर में अनुमति चाही।

'नही जी, क्या अपने घर से दिखाई नहीं पड़ता ?' दरवाज़े की ओट में निर्मला खड़ी थी। 'कैसी चालाक लड़की है—इस ग़रीब को आगे करती है, जब खुद कुछ कहना होता है। जाओ, जाना हो तो।' सावित्री ने झुंझला कर उत्तर दिया।

पांच बजे मुहर्रम का जुलूस निकलने वाला था। पल-भर में चौराहे पर सैकड़ों मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी हो गई। सावित्री का ध्यान कभी काले, हरे, रंग-बिरंगे वस्त्र पहने जन-समूह की ओर और कभी जुलूस

के कारण रुकी हुई मोटर गाड़ियों में बैठे हुए व्यक्तियों की ओर अनायास ही खिंच रहा था। और इधर बालिका निर्मला के होश-हवास एकाएक गुम-से हो गए जब उसे सारे घर में कमल की परछाईं तक नज़र न आई। व्याकुल-सी हो, वह एक कमरे से दूसरे में और फिर बरामदे में पंखहीन पक्षी की नाईं फड़फड़ाती हुई दौड़ने लगी। उसकी आंखों के आगे अंधेरा-सा छा गया। उसे सब कुछ सुनसान-सा प्रतीत होने लगा। वह मां से कई बार छोटे बच्चों के भीड़-भाड़ में खो जाने का हाल सुन चुकी है। आह···उसका भैया···कमल···वह क्या करे?

नीचे–सड़क पर भांति-भांति के रंग-बिरंगे खिलौने, नये-नये ढंग के गुब्बारे, कागज़ के पंखे, पतंग और भिन्न-भिन्न प्रकार के सुर निकलते हुए बाजे लाकर बेचने वालों ने बाल-जगत् के प्रति एक सम्मोहन-जाल-सा बिछा रखा है। कुछ दूर से मानों नेपथ्य में से ढमाढम ढोल-बाजों की ध्वनि बढ़ती आ रही है। निर्मला इन सब चित्ताकर्षक चीज़ों को बिना देखे-सुने ही भीड़-भाड़ को चीरती हुई वेगपूर्वक भागती-भागती सीता के घर भी हो आई; पर कमल तो वहां भी नहीं है। रोते-रोते निर्मला की आंखें सूज आईं; चेहरे का रंग सफ़ेद पड़ गया। आख़िर वह हिचकियां लेते हुए रुंधे गले से मां के पास जाकर बोली, 'कमल··· कमल तो सीता के घर भी नहीं है!'

सावित्री का तन-बदन एक बार सहसा कांप उठा। क्षण-भर में भीड़, मोटर और गाड़ियों के भय से कई अनिष्ट आशंकायें उसकी आंखों के आगे घूम सी गईं; किन्तु वह अपने भीरु लड़के की नस-नस से परिचित थी। उसे पूरा विश्वास था कि कमल ज़रूर ही कहीं न कहीं दुकान पर खड़ा होकर अथवा किसी नौकर के साथ जुलूस देख रहा होगा; फिर भी उसने फूट-फूट कर रोती हुई निर्मला को हृदय से नहीं लगाया और न उसे धीरज ही बँधाया, बल्कि आश्चर्य-चकित-सी हो,–आश्वासन का एक शब्द तक कहे बिना मानो वह अपनी लड़की की रुलाई को समझने का प्रयत्न कर रही थी। रह-रह कर एक सन्देह-सा

उसके मन में उठने लगा, 'मुझसे भी अधिक—भला मां के दिल से भी ज्यादा—किसी और को दर्द-चिन्ता हो सकती है ? और यह निर्मला तो दिन-रात कमल को सताया करती है !'

जुलूस समाप्त हो गया। क्रमशः दर्शकों के झुण्ड भी छिन्न-भिन्न होने लगे। मोटर गाड़ियों का धड़ाधड़ आना-जाना पूर्ववत् जारी होगया। और सामने ही फुटपाथ पर सफेद निकर और सफेद कमीज़ पहने पड़ोसी डाक्टर साहब के नौकर के हाथ में हाथ लटकाये कमल किशोर घर आता हुआ दिखाई दिया।

❀ ❀ ❀

सीढ़ियों में से फिर सिसकने की आवाज़ सुनकर सावित्री ने देखा तो मन्त्र-मुग्ध-सी रह गई। कमल को दृढ़-पाश में बांधे निर्मला दुगुने वेग से रो रही है। उसके कोमल गुलाबी गाल मोटे-मोटे आंसुओं से भीगे जा रहे हैं और वह बार-बार कमल का मुख चूम कर कह रही है, 'पगले ! तू कहां चला गया था ? गधे ! तू क्यों चला गया था ?'

सावित्री का हृदय उमड़ आया ! पुनीत प्रेम के इस दृश्य को देख कर एक आनन्द की धारा-सी उसके अन्तस्तल में बहने लगी। झरते हुए आंसुओं के साथ उसने कमल की जगह निर्मला को छाती से लगाकर उसका मुंह चूम लिया और कहा, 'बेटा, बहन को प्यार करो। देखो वह तुम्हारी ख़ातिर कितनी रोई है। तुम बिना कहे क्यों चले जाते हो ?'

निर्मला का इतना आदर होते देख कमल बोल उठा 'तो क्या मैं वहां नहीं रोया था ?'

'तुम क्यों रोये थे जी ?'--मां ने कुतूहलवश पूछा।

'मुझे गुब्बारा लेना था, पैसा नहीं था।'

निर्मला ने दौड़ कर अपनी जमा की हुई चवन्नी के पैसों में से दो गुब्बारे और दो कागज़ के खिलौने कमल को लाकर दिये और एक बार फिर उसे भुजाओं में जकड़ कर कहा, 'गधे ! तू चला क्यों गया था ?'

—❀○❀—